विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

स्वामी विवेकानन्द (कुस्तुनतुनिया में—नवम्बर १९००)

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष २
अंक ४

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-दिसम्बर १९६४

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर. १०४९

अनुक्रमणिका

———

कव्हर चित्र परिचय—स्वामी विवेकानन्द कुस्तुन-तुनिया में, नवम्बर १९००

ग्राहकों को विशेष सूचना

१— 'विवेक-ज्योति'' के इस चतुर्थ अंक के साथ आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है। अतः अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक ज्योति कार्यालय, पो॰ विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म॰ प्र॰) के पते पर भेजें।

२— जिन ग्राहकों का चन्दा हमें १० दिसम्बर, १९६४ तक नहीं प्राप्त होगा, उन्हें 'विवेक-ज्योति' के तीसरे वर्ष का प्रथम अंक वी॰ पी॰ पी॰ से भेजा जायगा। वी॰ पी॰ ४) ७५ की होगी। उन सबसे अनुरोध है कि वी॰ पी॰ कृपा करके छुड़ा लें, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ की हानि सहनी पड़ जायगी।

३— जिन सज्जनों को अब ग्राहक नहीं रहना है, वे कृपया एक कार्ड डालकर शीघ्र हमें सूचित कर दें जिससे हम उन्हें व्यर्थ वी॰ पी॰ न भेजें।

४— कुछ ग्राहकों से शिकायत आती है कि अंक उन्हें नहीं मिला। उनसे निवेदन है कि पहले अपने यहाँ के डाकघर में अच्छी तरह पूछताछ कर लें। यहाँ से विवेक ज्योति' भेजने के पूर्व तीन बार चेकिंग करके भेजी जाती है। अतः जो गड़बड़ी होती है वह रास्ते में अथवा अन्तिम डाकघर में ही होती है। हमारे पास प्रतियाँ बची रहने पर हम ग्राहकों को गुमे अंक की प्रति पुनः भेजते ही हैं। प्रतियाँ शेष न रहने पर लाचारी है।

५— पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

—व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २] अक्टूबर - १९६४ - दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) -*- एक प्रति का १)

लक्ष्य और उपाय

प्रणवो धनुः शरो हि आत्मा

ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं

शरवत् तन्मयो भवेत् ।।

— प्रणव (ओंकार) धनुष है, (यह उपाधियों में फँसा हुआ) आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । (निशाना लगाने के लिए अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचने के लिए) बाण के साथ तन्मय (एकाकार) होकर, सावधानी पूर्वक वेधन करना चाहिये ।

— मुण्डकोपनिषद्, २ । २ । ४

हर ! हर !

एक जगह सराफों की दूकानें हैं। देखने से वे सुनार परम वैष्णव दिखते हैं — गले में माला, माथे में तिलक-चन्दन, हाथ में सुमरनी और मुख में सर्वदा हरिनाम। ऐसा लगता है कि सन्त - महात्मा ही बैठे हुए हैं। क्या करें, पेट है, स्त्री - बच्चे हैं, उन्हें तो खिलाना पड़ेगा? इसीलिए सुनार का काम करना पड़ गया; नहीं तो क्यों वृथा इस जंजाल में फँसते ! उनकी दूकानों में खरीददारों की भीड़ लगी रहती है क्योंकि लोग जानते हैं कि दूकानदार परम वैष्णव हैं, इसलिए यहाँ पर सोने-चाँदी के मोल-भाव और तौल ताल में कोई गड़बड़ी न होगी। ग्राहक सराफा में जाकर देखते हैं, दूकानदार मुँह से भगवान् का नाम ले रहे हैं और बैठे बैठे अपना काम कर रहे हैं। सराफे की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी है। गाँव - गाँव से लोग वहीं सोना-चाँदी खरीदने - बेचने आया करते हैं। जैसे ही ग्राहकों का एक दल दूकान पर आया कि एक दूकानदार जोर से भगवान् का नाम लेता हुआ कहता है— 'केशव ! केशव ! केशव !' थोड़ी देर बाद दूसरा बोल उठता है— 'गोपाल ! गोपाल ! गोपाल ! थोड़ी बातचीत हुई कि तीसरा कह उठता है—'हरि ! हरि ! हरि !' गहना बनाने की बात जब एक प्रकार से समाप्ति पर आती है तो चौथा बोल उठता है —'हर ! हर ! हर ! हर !' इतना प्रेम और भक्ति भगवान्

के प्रति ! ग्राहक सुनारों को रुपया-पैसा देकर निश्चिन्त हो जाते हैं, जानते हैं कि वहाँ वे कभी धोखा नहीं खायेंगे।

पर बात असल में क्या है जानते हो ? ग्राहकों के आते ही जिसने कहा था 'केशव, केशव !', वह असल में यह पूछता है—'के सब', 'के सब'—अर्थात् ये सब कौन हैं ? (बँगला में 'व' का उच्चारण 'ब' होता है और 'के' का अर्थ 'कौन'।) जिसने कहा—'गोपाल, गोपाल', वह मानो उत्तर देते हुए कहता है कि अरे ! ये तो 'गो (गाय)-पाल (झुण्ड)' (अर्थात् गायों का झुण्ड) दिखते हैं। (तात्पर्य यह कि बुद्धि के नाम से ये कोरे हैं।) जिसने 'हरि हरि' कहा था, वह दूसरे की बात सुनकर मानो पूछता है कि जब ये लोग गाय के झुण्ड हैं, तो क्या इनको 'हरि' ? (हरण कर लूँ या लूट लूँ ?) इस पर चौथा कहता है—"हर, हर !" (हाँ, हाँ, सब कुछ हर लो !) ऐसे परम भक्त हैं वे लोग !

संसार में ऐसे 'परमभक्तों' की कमी नहीं ! इनसे हरदम बचकर चलना चाहिए। भले ही ऊपर से देखने में ऐसे 'परमभक्त' सहसा पहचान में नहीं आते, पर उनकी गति-विधियों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से वे पकड़ में आ जाते हैं। उपर्युक्त कथा का सार यह भी है कि जहाँ भक्ति और साधुता का दिखावा हो, वहाँ हमें पहले से ही सावधान हो जाना चाहिए।

—x—

आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं को दूर करने के उपाय

गतांक से आगे)

श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज

हमारे युग की कुछ विशेष बाधाएँ:— वर्तमान में हम नारेबाजी के युग में रह रहे हैं। एक बहुत दुहराया जाने-वाला नारा है कि धर्म लोगों के लिए अफीम है, इसलिए उससे विष के समान बचना चाहिए। बारबार यह बात सुनते रहने से हममें से कुछ लोग, जो भगवान की दी हुई विवेकशक्ति का उपयोग करने को तैयार नहीं हैं, उसमें विश्वास कर लेते हैं और सच्चे धर्म के प्रति भी आस्था खो बैठते हैं। स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या के अनुसार सच्चा धर्म "मनुष्य में विद्यमान दैवी भाव की अभिव्यक्ति" है। धर्म के कई भेद हैं। एक धर्म है जो जीव को संकीर्ण सिद्धान्तों और मतवादों में बाँध लेता है; एक धर्म वह भी है जो हमारी आध्यात्मिक क्षमता को जगा देता है, हममें यह अनुभूति भर देता है कि हम सब उसी एक सनातन पुरुष के अंश हैं और हमें एक दूसरे के प्रति, उपासना के भाव से, प्रेम और सेवा करने की प्रेरणा देता है। मिथ्या नारेबाजी के द्वारा उत्पन्न की गई इस बाधा को हमें दूर करना ही चाहिए।

एक दूसरी बाधा है। एक चालू नारा मनोवैज्ञानिकता की आड़ लेकर उठाया जाता है—"धर्म मनुष्य को अपनी सहज प्रवृत्तियों का दमन या निरोध करना सिखाता है और इस प्रकार संघर्ष या ग्रन्थियाँ उत्पन्न करता है। इनके कारण मनुष्य के मन और शरीर का अस्वस्थ हो जाना स्वाभाविक है, इसलिए धर्म को खतरेकी चीज़ समझ कर उससे अपने आपको बचाना चाहिये।" हम यहाँ पर मनोवैज्ञानिक तरीके से ही इस कथन का परीक्षण करें।

निरोध एक अस्वैर प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनचाही कामनायें और आवेग चेतना से बाहर निकाल दिये जाते हैं। इससे इन कामनाओं और आवेगों की प्रत्यक्ष तुष्टि नहीं हो पाती, इसलिये वे अचेतन मन में कार्य करने लगते हैं। दूसरी ओर, चेतना से बलपूर्वक किसी विचार या कामना का निकालना दमन कहलाता है। इस प्रकार वह भी अचेतन में जाकर एक भयानक तांडव खड़ा कर देता है। दोनों ही दशाओं में ये छिपे हुए शत्रु स्नायुविकार को जन्म देते हैं और शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को विपरीत रूप से प्रभावित कर सकते हैं।

एक खतरनाक किस्म के मनोवैज्ञानिक होते हैं जो किसी रोगी को स्नायविक तनाव से मुक्ति पाने के लिये सलाह देते हैं, "अपनी प्रवृत्तियों को खुलकर खेलने दो।" यहाँ तक कि वे स्वच्छन्द अनैतिक आचरण को भी बढ़ावा देते हैं। यह एक ऐसा उपाय है जो अनुपयुक्त ही नहीं

बल्कि बड़ा हानिकर है। किसी 'ग्रन्थि' से बचने के लिये रोगी दूसरी बदतर 'ग्रन्थि' को जन्म देता है और इस प्रकार अन्त में अपने शरीर और मन का सत्यानाश कर डाल सकता है।

इस तथ्य को कई विद्वान् और प्रमुख मनोवैज्ञानिक मान्यता देते हैं। उनमें से एक, डा० जे० ए० हैडफील्ड, अपनी Psychology and Morals नामक पुस्तक में घोषणा करते हैं, "प्रत्येक स्नायुविकारग्रस्त लड़की को पहले यह जो सीख दी जाती थी कि 'तुम अब शादी करलो', जितनी मूर्खतापूर्ण है उससे कहीं अधिक मूर्खता से भरी रोग के निदान की वह सलाह है कि 'जाओ और अपनी प्रवृत्तियों को खुलकर खेलने दो'। मैंने अपने जीवन के अनुभव में किसी स्नायुविकार के रोगी को विवाह के द्वारा चङ्गा होते कभी नहीं देखा है, यौन-स्वाच्छन्द्य से तो और भी कम। बल्कि मैं स्नायुविकार के ऐसे कई रोगियों को जानता हूँ जिनका रोग विवाह से और भी बढ़ गया। कभी कभी तो मुझे यह विचार आता है कि मेरे आधे रोगी विवाहित न होने के कारण स्नायुविकारग्रस्त हैं और शेष आधे इसलिये, कि वे विवाहित हैं!"

'ग्रन्थि' एक मनोवैज्ञानिक शब्द है; इसका यथार्थ तात्पर्य होता है—एक विचार या विचारों के समूह का प्रबल भावुकता के बंधन द्वारा आपस में घनिष्ठ रूप से बंध जाना। जब हम किसी चीज का प्रबल रूप से अनुभव करते हैं, तो समझना चाहिये कि वह भी एक ग्रन्थि है।

सयाने मनुष्य के जीवन में जो तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियाँ हैं वे हैं अहंकार, यौन और झुण्ड बनाकर रहने की ग्रन्थियाँ। इनसे अन्य ग्रन्थियों की उत्पत्ति होती है और इन ग्रन्थियों की परस्पर-विरोधी माँगें हममें गंभीर संघर्षों को जन्म देती हैं।

ग्रन्थियाँ अपने आप में खराब नहीं हैं। वे बुरी तब होती हैं जब वे स्वार्थ, लोलुपता, लालच और असहिष्णुता आदि का रूप ले लेती हैं; तब ये व्यक्ति और समाज दोनों के लिये अपकारी हो जाती हैं। इसके विपरीत, जब वे माता-पिता, देशभक्तों और समाज सेवकों में आत्मत्याग के रूप में प्रकट होती हैं, तब अच्छी हैं, और तब उनसे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण होता है।

पूर्ण उदात्तीकरण की आवश्यकता। हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक विचारधारा धन, संतति और सामाजिक प्रतिष्ठा की सभी संगत कामनाओं को मान्यता देती है और पहले अधिकांश नरनारियों को अभ्युदय के मार्ग से ले जाने की चेष्टा करती है। यहाँ गृहस्थ के जीवन पर बड़ा बल दिया गया है। गार्हस्थ्य जीवन में परिवार और समाज के कर्त्तव्यों को पूरा करने से कामनायें उदात्त बनती हैं और प्रार्थना, उपासना तथा ध्यान के द्वारा परमात्मा की ओर प्रवाहित होती हैं।

पश्चिम के कुछ प्रमुख मनो-वैज्ञानिक समाजीकरण के द्वारा सहज प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण पर बल देते हैं। एडवर्ड ए० स्ट्रेकर और केन्नेथ ई० एप्पेल कहते हैं, "जो शक्ति

स्वभावगत निम्न आवेगों की पूर्ति में पूरी तरह खर्च हो जा सकती है, उसी को उदात्तीकरण के द्वारा पूर्णतः या अंशतः अधिक समाजहितकर कार्यों में लगाया जा सकता है। इससे केवल समाज की ही नहीं बल्कि व्यक्ति की भी उन्नति और उसका रक्षण होगा।" प्रो० एच० ए० ओवर स्ट्रीट कहते हैं, "उदात्तीकरण हम सबके लिये है। उसे तो हमारा सौभाग्य कहना चाहिये। विवाहित या अविवाहित समस्त सभ्य जीवन का ध्येय इसी उदात्तीकरण की प्राप्ति होना चाहिये।"

हिन्दू अध्यात्मवेत्ता गण केवल हमारी सहज प्रवृत्तियों के समाजीकरण की ही बात नहीं करते बल्कि उनका आध्यात्मीकरण करने की भी बात कहते हैं। उनका कहना है कि आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य—आत्म साक्षात्कार—के लिये वह एक सीढ़ी है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि पश्चिम के कतिपय मनोवैज्ञानिक धर्म के महत्त्व को अधिकाधिक समझते जा रहे हैं। स्ट्रेकर और एप्पेल के अनुसार "शिक्षा, नैतिकता और धर्म उदात्तीकरण के संघबद्ध प्रयास हैं", और "जिस प्रेम-भावना की तुष्टि व्यक्तिगत स्तर पर नहीं हो पाई है वह धार्मिक भक्ति की उष्णता में तुष्ट हो सकती है अथवा समाज-सेवा की कर्मठ भक्ति में वह अपना प्रतिदान पा सकती है।" विख्यात स्विस मनोवैज्ञानिक डा० जंग कहते हैं, "एक सर्वशक्तिमान् दैवी व्यक्तित्व का भाव सर्वत्र विद्यमान है, यदि जानबूझकर न हो तो अनजाने ही;

क्योंकि वह एक मूलभूत आदर्श है। इसलिए जानबूझकर ईश्वर के भाव को स्वीकार करना मैं अधिक विवेकपूर्ण समझता हूँ।"

हम ही अपनी सबसे बड़ी बाधा हैं। जैसे-जैसे हम अध्यात्म के रास्ते आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, वैसे वैसे हम यह अनुभव करते हैं कि हम ही अपनी सबसे बड़ी बाधा हैं। अपने दुख-कष्टों के लिये दूसरों के सिर पर कीचड़ उछालने के बजाय दोष हमें अपने ऊपर ही लेना चाहिये।

ऐसे जीवशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और अन्य विचारकों की कमी नहीं जो हमारे दुख-कष्टों का कारण या तो वातावरण को समझते हैं या हमारे पूर्वजों को, या फिर सार्वभौम अचेतन मन को। अपनी जिम्मेदारियों को टालने के लिए हम भी कभी कभी ऐसा ही सोचने लगते हैं। हम जाने कितनी बार अपनी समस्त बाधाओं और कठिनाइयों का दोष किसी दूसरे पर मढ़कर स्वयं को बेदाग़ समझते हैं। लेकिन जब हम निष्ठुरता के साथ अपना विश्लेषण करना सीखते हैं तो पाते हैं कि अधिकांश कठिनाइयाँ हमारी अपनी उपजाई होती हैं और हमारे भीतर होती हैं।

पाश्चात्य मनीषी विलियम अरनेस्ट हाकिंग ने बताया है, "समस्त प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा है जिसमें आनुवंशिकता सबसे कम होती है और इच्छाशक्ति का प्रभाव सबसे अधिक।" अतः हम वंशवृक्ष पर अथवा भौतिक आनुवंशिकता पर इतना अधिक बल क्यों दें? हम

विवेकपूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा अपने आपको पूरी तरह बदल सकते हैं और अपने में ऐसा परिवर्तन ला सकते हैं जो अन्य किसी भी प्राणी के लिए संभव नहीं है।

गलत विचार, गलत अनुभव और गलत कर्मों द्वारा हम अपने लिए कई बाधाएँ खड़ी कर लेते हैं। अत्यधिक आत्मश्लाघा अथवा अति आत्मनिंदा दोनों से हमारी आध्यात्मिक उन्नति रुकती है। जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण और उचित शिक्षा से हम इन बाधाओं को जीत सकते हैं।

एकबार कोई योरोपियन सज्जन मुझसे मिलने आये। वे मन की स्थिरता और समाधि के अभ्यास के नाम पर एक प्रकार की नींद का अभ्यास कर रहे थे। योग का चरम लक्ष्य समाधि है; और अपने आपको उस समाधि की स्थिति में पहुँचा हुआ समझ कर वे मुझसे बोले, "समाधि से भी कोई उच्चतर अवस्था अवश्य होनी चाहिये!" किन्तु जब उन्हें यथार्थ बात बताई गई तो उन्हें अपनी गलती मालूम हुई और वे अपनी कठिनाई को जीत सके।

ध्यानाभ्यास के नाम पर एक अमेरिकन एक प्रकार की स्वप्नावस्था को लाना चाहता था, जहाँ उसकी कल्पना शक्ति उच्च और हास्यास्पद तथा पवित्र और अपवित्र विचारों के विचित्र मिश्रण में चक्कर लगाया करती थी और नाना प्रकार के प्रतीकों और भावोच्छ्वासों को जन्म देती थी वह सोचता था कि मन की उस विकृत अवस्था में अधिक देर तक बैठे रहना एक उपलब्धि है। उसे मैंने

सीख दी कि जैसे ही उसे नींद-सी आने लगे, वह तुरन्त अपना आसन छोड़ दे और अपने ध्यान को सुधारने की कोशिश करे।

एक महिला अपनी भावुकता के लिए अपने आपको अत्यधिक कोसती थी। उसे सलाह दी गई कि वह उस सबको एक बुरे स्वप्न की तरह भूल जाये, अपने आध्यात्मिक स्वभाव पर अधिक बल दे, अपने जीवन के कर्त्तव्य भली-भाँति निबाहे तथा प्रार्थना और ध्यान के लिए थोड़ा समय रखले। उसने निर्देशानुसार कार्य किया और उसके जीवन का एक नया अध्याय खुल गया।

एक चित्रकार था जो बड़ा संशयी था। बाद में उसे आध्यात्मिक साधना की उपयोगिता जँच गई। उसने कुछ निर्देशों का पालन किया और फलस्वरूप अपने दृष्टिकोण में अधिकाधिक आध्यात्मिक होता गया। उसकी चित्र-कारी का स्तर भी उन्नत हो चला।

साधना में असफलता के उदाहरण अवश्य हैं, पर इसमें भी संदेह नहीं कि जो निष्ठा के साथ अध्यात्म के रास्ते चल पड़ते हैं वे अपनी बाधाओं को कम करते जाते हैं; उन्हें आध्यात्मिक अनुभूति की झलक भी मिलती है और वे शान्ति एवं ज्योति के एक नये क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।

बाधाओं की दो कोटियाँ—उच्च और निम्न—न जाने कितने प्रकार की बाधाएँ हैं! एक तो वे हैं जिनको हम अपनी काम-क्रोध-ईर्ष्या आदि निम्न प्रवृत्तियों के फेर में पड़कर जन्म देते और पनपाते हैं। दूसरे प्रकार की बाधाएँ

वे हैं जिनका अनुभव श्रीरामकृष्ण- जैसे महापुरुषों को होता है,जब वे मन की अतीन्द्रिय अवस्था में पहुँचना चाहते हैं। जब श्रीरामकृष्ण को उनके गुरुने अद्वैत वेदान्त की साधना में दीक्षित किया तो वे बड़ी सरलता के साथ ऊँची स्थिति में पहुँच गए। वहाँ से एक सीढ़ी और कि सिद्धि उनके सामने थी किन्तु उनके सम्मुख एक अलंघ्य बाधा जगन्माता काली के रूप में आ खड़ी हुई! यह बाधा भी गुरु के निर्देशानुसार चलने से दूर हो गई और वे निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गए।

ज्ञानी पुरुष आकाश से नहीं टपका करते। इसमें सन्देह नहीं कि वे महान् संभावनाओं के साथ जन्म लेते हैं पर वे समर्थ गुरुओं के निर्देशानुसार, तीव्र आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए, अपनी इन संभावनाओं को प्रकट कर लेते हैं।

श्रीरामकृष्ण कभी कभी अपने शिष्यों की बाधाओं को दूर कर दिया करते थे। एक दिन राखाल, जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से परिचित हुए, ध्यान कर रहे थे। उनका मन शुष्क और चंचल हो गया; मन को शान्त करने के उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। बड़े हताश होकर वे अपने गुरुदेव के पास जाने की इच्छा करने लगे। इधर श्रीरामकृष्ण को भी अपने शिष्य की कठिनाई न जाने कैसे मालूम हो गई और वे भी राखाल के पास जाने लगे। बीच में दोनों की भेंट हुई और गुरुदेव ने शिष्य के मस्तक पर अपना हाथ फेरा। राखाल के मन

की चंचलता दूर हो गई और उनकी आत्मा में शान्ति और आनन्द भर भर गया।

जब हम स्वामी ब्रह्मानन्दजी से मिले तो वे स्वयं उच्च-कोटि के आत्मद्रष्टा पुरुष हो चुके थे, उनकी आध्यात्मिक शक्तियाँ महान् थीं। हम ऐसी कई घटनाएँ जानते हैं जब ब्रह्मानन्दजी ने हममें से अपने कई शिष्यों को अपनी बाधाओं को जीतने में समर्थ बनाया था।

आध्यात्मिक साधना के पथ में हम कभी कभी अनुभव करते हैं कि अब हम बन्द दरवाजे पर आ पहुँचे, अथवा ऐसा लगता है कि हम घने बादलों के बीच पहुँच गए हैं और रास्ता नहीं देख पा रहे हैं। ऐसी दशा में स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमें अपनी आध्यात्मिक साधनाओं को और भी तीव्र करने के लिए कहा करते थे। इससे सामने की बाधाएँ दूर हो जाया करती थीं। कभी कभी जब हम बड़ी गलती कर बैठते तो वे हमारी कड़ी भर्त्सना भी करते थे। इससे हमें बुरा तो लगता था पर हमारा मन अधिकाधिक अन्तर्मुखीन हो जाता था और हम अधिक वेग के साथ साधनाओं में लग जाते थे। इस प्रकार बाधाओं से ऊपर उठकर पुनः आगे बढ़ने लगते थे। ऐसे अवसर भी आये जब उन्होंने हमें उच्चतर अनुभूतियों की झलकियाँ भी दीं। वे अपने पूत स्पर्श द्वारा हमारे मन को उस समय तक के लिए उच्चतर अवस्था में पहुँचा दे सकते थे।

बाधाओं को जीतने का एकमात्र उपाय— अनवरत प्रयत्न। इससे ऐसा नहीं सोच लेना चाहिए कि हमारी

साधनाएँ बड़ी सहज हो गई थीं; बल्कि यथार्थ इसके विपरीत था। उस अनुभूति को अपने अधिकार में लाने का सच्चा प्रयत्न तो तभी से शुरु हुआ। इससे साधना की तीव्रता पहले से कहीं अधिक हो गई। प्रयत्न अभी भी जारी है, भले ही बाहर से हरदम वैसा न मालूम पड़े; और इन प्रयत्नों में से होते हुए हम आगे बढ़ रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण के देहावसान के बाद स्वामी ब्रह्मानन्दजी तथा उनके गुरु भाइयों की साधनाएँ अत्यधिक तीव्र हो गई थीं। एक समय विजयकृष्ण गोस्वामी ने ब्रह्मानन्दजी से पूछा था, "तुम्हें जब श्रीरामकृष्ण ने जो कुछ आवश्यक है वह सब दे दिया है, तो इतनी कड़ी साधनाएँ फिर क्यों कर रहे हो?" स्वामीजी ने उत्तर दिया था, "गुरुदेव की कृपा से ईश्वर की जो झलक मुझे मिली है, मैं उसी में प्रतिष्ठित हो जाने का प्रयत्न मात्र कर रहा हूँ।"

हममें से अनेकों ऐसे हैं जिन्हें अनुभवी गुरु का सान्निध्य नहीं मिल पाता। यह निस्संदेह सत्य है कि बिना उपयुक्त गुरु के मार्गदर्शन के अध्यात्म पथ पर आगे बढ़ना अधिक लाभप्रद नहीं है। तथापि यदि हममें निष्ठा है तो कालान्तर में भले ही हमें अनुभवी गुरु न मिलें पर कम से कम अध्यात्म पथ में उन्नत साधक अवश्य ही मिल जायेंगे। ऐसे पथप्रदर्शक रास्ते की बाधाओंको कम कर देते हैं और हमें आगे बढ़ने में सहायता पहुँचाते हैं। किन्तु यदि कोई मानवी गुरु हमें न मिले तो हमें अपने ही ऊपर निर्भर करना पड़ता है और परमात्मा से प्रकाश और मार्गदर्शन के लिए

सतत प्रार्थना करते हुए अपनी सामर्थ्य के अनुसार आगे बढ़ते चलना पड़ता है, आखिर परमात्मा ही तो परम गुरु हैं ।

जैसा कि श्री रामकृष्ण और उनके शिष्यगण कहा करते थे, भगवत्कृपा रूपी वायु हरदम बह रही है। हमें बस पाल तान देना है। सुव्यवस्थित आध्यात्मिक साधना के द्वारा हमें दैवी आध्यात्मिक प्रवाह के संस्पर्श में आ जाना चाहिए और लक्ष्य की ओर सतत् बढ़ते रहना चाहिए। हमें साधना से लग जाना चाहिए। श्रीकृष्ण की उस बात का हम स्मरण करें—"उद्धरेत् आत्मनात्मानं नात्मानम् अवसादयेत्। आत्मैव हि आत्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः"—मनुष्य को चाहिए कि स्वयं अपना उद्धार करे, अपने आपको कमजोर न बनाए;क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु।

आध्यात्मिक जीवन एक अविराम संघर्ष है। नैतिक बाधाओं का अतिक्रमण करना उसका एक अनिवार्य अंग है। आत्मसाक्षात्कारी पुरुष और शास्त्र इसका उपाय हमें बतलाते हैं। बुद्ध ने कहा है, "जब लोग तुम्हारी बुराई करें तो अपने आपको यों सीख दो—'हमारा मन चंचल नहीं होगा। हम कोई बुरा शब्द न कहेंगे बल्कि दूसरों के कल्याण के लिए, बिना किसी क्रोध के, अपने हृदय को बिछा देंगे।' और जो व्यक्ति इस प्रकार कहता है उसे हम प्रेम भरे विचारों से सराबोर कर देंगे।"

ईसामसीह कहते हैं, "अपने वैरियों से प्रेम करो; जो तुम्हें शाप देते हैं उन्हें तुम आशीर्वाद दो; जो तुमसे घृणा

करते हैं उनकी भलाई करो, और जो तुमसे द्रोहपूर्ण व्यवहार करते हैं उनके लिए प्रार्थना करो।" महाभारत में कहा है, "क्षमा से क्रोध को जीत लेना चाहिए, दुष्ट को सचाई से, कंजूस को उदारता से और झूठ को सत्य से।"

ऐसी भी बाधाएँ हैं जो तमोगुण और रजोगुण से जन्म लेती हैं। तमोगुण के प्रभाव से मन अज्ञान, आलस्य, भ्रम और प्रमाद से भर जाता है। रजोगुण के प्रबल होने पर वह चंचल, कामी, असंतुलित और दुखी हो जाता है। हमें सत्त्व को प्रबल करना चाहिए जिससे मन सम्यक् ज्ञान, संतुलन, शुभत्व, प्रफुल्लता और आनन्द से भर उठे। सत्व के सहारे तमोगुण और रजोगुण की बाधाओं को यथासाध्य दूर करना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार के लिए तो इस सत्त्वगुण को भी लांघ जाना पड़ता है।

पतंजलि द्वारा दर्शाया गया उपायः—योग के महान् आचार्य पतंजलि हमें यम और नियम का पालन करने के लिए कहते हैं। यम का मतलब है दुष्कर्मों से अपने आप को दूर रखना और नियम का अर्थ होता है व्रत आदि सत्कर्मों का अनुष्ठान करना। उनके मतानुसार यम और नियम के द्वारा अनासक्ति और समता की स्थिति में पहुँचा जा सकता है, जहाँ आत्मा अपनी सभी सीमाओं को पार कर जाती है, अनात्मा के साथ अपनी तद्रूपता को झकझोर देती है और अपनी गरिमा में, अपने यथार्थ शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। वे साधक के रास्ते विभिन्न स्तरों पर आने वाली बाधाओं का उल्लेख करते हैं

और उनके दूर करने के उपायों को भी प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं, "योग की बाधाएँ हैं—की गई, कराई गई या अनुमोदित हिंसा तथा असत्य आदि।" "योग-विरोधी विचारों को दूर करने का उपाय है—प्रतिपक्ष-भावना। तात्पर्य यह कि हिंसा, असत्य, चोरी, अपवित्र जीवन तथा परिग्रह के दोषों को दूर करने के लिए हमें क्रमशः अहिंसा और प्रेम, सत्य, अचौर्य (अस्तेय), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अभ्यास करना चाहिए। अशुद्धता को दूर करने के लिए शरीर और मन की शुद्ध आदतों का निर्माण करना चाहिए। असंतोष को संतुष्टि और प्रफुल्लता के भावों से जीतना चाहिए। अत्यधिक आरामपसंदगी को शारीरिक कठोरता से, असंबद्ध रूप से पढ़ने की आदत को गहरे अध्ययन और स्वाध्याय से तथा अहंकार को ईश्वर-प्रणिधान से जीतना चाहिए।"

आध्यात्मिक पथ में पवित्र बनने का यही पहला कदम है। इसी को लोग उदात्तीकरण या आत्मशुद्धि कहते हैं। यह हो जाने पर ही इसके बाद की सीढ़ियाँ सफलतापूर्वक तय की जा सकती हैं; ये सीढ़ियाँ हैं,—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

योगाभ्यास के विभिन्न स्तरों पर आने वाले कई बाधाओं की सूची पतंजलि हमारे सामने रखते हैं। वे हैं-'व्याधि' अथवा शारीरिक रोग 'स्त्यान' अर्थात् मन की असहायता अथवा मानसिक प्रमाद, संशय, आलस्य, आसक्ति, भ्रांति-दर्शन, लक्ष्य की अप्राप्ति अर्थात् ध्यान का

न जमना, चित्तविक्षेप तथा लक्ष्य के समीप जाकर वहाँ टिक न पाना। जप और ध्यान के द्वारा ये बाधाएँ दूर होती हैं और अन्तर्दृष्टि खुल जाती है।

उन्नत आत्माओं के सामने भी कई प्रकार की बाधाएँ आ सकती हैं। सदानन्द अपने 'वेदांतसार' नामक ग्रन्थ में निर्विकल्प समाधि के लिए चार विघ्नों का उल्लेख करते हैं—आलस्य या निद्रा, विक्षेप अर्थात् लौकिक वस्तुओं में मन का रम जाना, भोगों के प्रति छिपी हुई लालसा के कारण मन की आसक्ति तथा सविकल्प समाधिमें प्राप्त के आध्यात्मिक अनुभवों का रसास्वादन करते हुए उसी में संतुष्ट हो जाना। इन विघ्नों को दूर करने का उपाय उन्होंने यों बताया है, "जब मन में आलस्य या निद्रा का भाव हो तो उसे संबोधित करो, उठाओ, जब विक्षिप्त हो तो उसे स्थिरता की ओर खींच लाओ; जब आसक्त हो तो दृढ़ता-पूर्वक आसक्ति के विषयों से उसे दूर हटा लो, सविकल्प समाधि के आनन्द में उसे डूबने न दो; और सत्यासत्य-विवेक के अभ्यास द्वारा समस्त वृत्तियों से निर्लिप्त हो जाओ।"

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण योगी के संयमित मन की उपमा दीपक की निवात-निष्कम्प लौ से देते हैं। पतंजलि ने भी अपने योग सूत्रके प्रारंभ में इस आदर्श का उल्लेख किया है। वे कहते हैं, "चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहा जाता है—योगः चित्तवृत्तिनिरोधः। योग की उस

अवस्था में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है—
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।"

जप और ध्यान—सर्वश्रेष्ठ उपायः—पतंजलि हमसे ऐसा नहीं कहते कि हम बाधाओं को एक एक करके दूर करें। उनके मतानुसार, विघ्न निम्नोक्त उपाय के परिपालन से दूर हो सकते हैं—"तज्जपः तदर्थभावनम् अर्थात् ॐ का जाप करो और उसके अर्थ का चिन्तन करो।" इस सूत्र पर भाष्य करते हुए एक टीकाकार कहते हैं, "ॐ का जप करने के बाद साधक को ध्यान करना चाहिए; ध्यान के बाद उसे पुनः जप करना चाहिए। जप और ध्यान की पूर्णता से परमात्मा प्रकट हो जाते हैं।··· ईश्वर-प्रणिधान से सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं और उसके बाद साधक अपने निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। वह अनुभव करने लगता है कि जिस प्रकार ईश्वर शुद्ध, आनन्दमय द्वन्द्वविनिर्मुक्त परम आत्मा है, उसी प्रकार मन के सहारे क्रिया करनेवाली आत्मा भी शुद्ध और आनन्दमय है।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमें उत्साहित करते हुए कहते थे, "जप और ध्यान के अभ्यास में अपने आपको डुबो लो। अभी मन स्थूल है और स्थूल विषयों में विचरण करता है। पर जैसे-जैसे जप और ध्यान का अभ्यास होता है, वह सूक्ष्म होता जाता है और सूक्ष्म सत्यों का धारण करना सीखता है। अभ्यास, अभ्यास! ईश्वर है या नहीं यह अपने तईं अनुभव करो।··· माया के परदे एक के बाद

एक हटते जायेंगे और एक नया दृश्य सामने आयेगा। तब तुम देखोगे कि तुम्हारे भीतर कैसा अद्भुत खजाना छिपा हुआ है। तुम अपने दिव्य स्वरूप को प्रकट कर लोगे और शाश्वत आनन्द के अधिकारी बन जाओगे।"

अतः, हम ईश्वर के नाम का जप करें और उस पर ध्यान करें। हमारा तन और मन दैवी आध्यात्मिक स्पंदन से एकरूप हो उठे। वह दैवी प्रवाह शरीर के सारे दोष और मन का सारा विक्षेप बहा ले जाय। उस महान् ज्योतिर्मय पर—हृदय में बैठे हुए उस परम गुरु पर—हमारा ध्यान समस्त अंधकार को दूर कर दे और उनके शाश्वत, नित्य-शुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त और नित्य आनन्दमय दिव्य स्वरूप को, जो कि हमारा भी आध्यात्मिक स्वरूप है, उद्घाटित कर दे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

—x—

तुम भला पापी ? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है; यह कथन मानवस्वभाव पर एक लाञ्छन है।

—स्वामी विवेकानन्द

संन्यास आश्रम का नवसंस्करण करने वाले स्वामी विवेकानन्द

काका कालेलकर

(विवेकानन्द शताब्दी समारोह के अवसर पर विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में दिया गया भाषण)

मैं स्वामी आत्मानन्द जी को शुरू में ही धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मुझे यहाँ बुलाकर स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपनी असीम श्रद्धा-भक्ति अर्पित करने का मौका दिया।

स्वामी विवेकानन्द जी ने नवभारत का—प्रबुद्ध भारत का आरंभ किया इसलिए मैं उन्हें सच्चा युगपुरुष कहूँगा। हमारे इस युग के तीन महापुरुष हुए। एक कविवर रवीन्द्रनाथ, दूसरे महायोगी अरविन्द और तीसरे कर्मवीर महात्मा गाँधी।

इन तीनों के काम, इन तीनों महापुरुषों की वाणी, साहित्य और उनके कार्य प्रवाह का विचार करके मैं कहता हूँ कि इन तीनों के युग कार्य में स्वामी विवेकानन्द का हिस्सा बहुत बड़ा था।

ब्रिटिश काल में स्वामी विवेकानन्दजी के पूर्व के लोगों ने भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में श्रद्धाभाव प्रकट किया था सही, परंतु वे केवल हमारे धर्म ग्रन्थों के प्रति आदर

दिखाने वाले लोग थे। हमारे वेद और शास्त्रों के प्रति उन्हें औत्सुक्य था, कुतूहल था। थियोसोफिकल सोसायटी की भी स्थापना हो चुकी थी। मैक्समूलर आदि विद्वानों ने जर्मनी में और इँग्लैण्ड में वेदादि का अध्ययन किया था, परंतु 'भारतीय संस्कृति जगत् को नया रास्ता बता सकती है' यह प्रकाश पश्चिमी देशों को दिखाने का काम स्वामी विवेकानन्द जी ने ही पहिले पहल किया। फिर वहाँ से लौटकर उन्होंने भारत में आत्मविश्वास जमाने का भगीरथ प्रयत्न किया। स्वामीजी का यह काम सचमुच अद्भुत था।

जिस काल में स्वामी विवेकानन्द ने दुनिया पर और भारत पर अपना तेजस्वी असर डाला, उस युग का मैं एक नवयुवक हूँ। उनसे पहिले हम नवजवान लोग क्या सोचते थे और बाद में क्या सोचने लगे उस सारे परिवर्तन का मैंने अनुभव किया है।

'अंग्रेजों का राज हितकर नहीं है' ऐसा समझकर हमारे राष्ट्र ने उन्हें हटाने का जो प्रथम प्रयत्न किया वह समय था सन् १८५७ ई० का। उस समय हमारा पूरा संगठन नहीं था। निश्चय भी पूरी तरह परिपक्व नहीं था कि देश से उन्हें निकालना ही है। सारे देश में जगह जगह लोग उठ खड़े हुए थे। वह प्रयास 'गदर' के जितना क्षुद्र नहीं था, और इतनी तैयारी भी नहीं थी कि उसे 'स्वातंत्र्य-युद्ध' कहा जा सके। हमारी उस हार का अंग्रेजों

ने पूरा लाभ उठाया और तभी से अंग्रेजी राज्य की नींव इस देश में मजबूत हुई।

उस हमारी हार के बारह वर्ष बाद अंग्रेजी विचार को शिकस्त देने वाला एक समर्थ पुरुष पैदा हुआ स्वामी विवेकानन्द ! उस समय की हमारी हार सामरिक हार नहीं थी। वह थी नैतिक हार। हमारे समाज के कई प्रतिष्ठित लोगों ने अंग्रेजी राज्य का प्रसन्नता से स्वागत किया। उसके गीत भी गाये। अंग्रेजों के प्रति लोक-हृदय में निंदा और घृणा भरी थी। लेकिन इतना होने पर भी तब के एक महाराष्ट्रीय कवि ने गाया था कि "धरातलीं इंग्रिजा सारिखा प्रभु नाहीं दुसरा।" जब अंग्रेजों की विजय हुई और महाराष्ट्र में पेशवाओं का राज्य समाप्त हुआ, तब खुशी मनाने के लिये अंग्रेजों ने जो भेंट-दक्षिणाएँ बाँटीं, उनको लेने के लिये वेदशास्त्र संपन्न शास्त्री लोग भी दौड़े दौड़े गये थे। इस हद तक हम हृदय से हारे थे। मैं महाराष्ट्र का हूँ इसलिए मैंने महाराष्ट्र की बात की। बाकी भारत में इससे कोई अच्छी स्थिति नहीं थी।

ईश्वर की रचना ही ऐसी है कि जब कोई बुराई पैदा होती है तब उसके निवारण का इलाज भी साथ साथ जन्म लेता है। जैसा कि कोंकण में नारियल के साथ साथ कोकम के पेड़ भी पैदा होते हैं। नारियल से जो पित्तवृद्धि होती है उसका शमन कोकम से होता है। औषधि विज्ञान जाननेवाले बता सकते हैं कि वन में जहाँ विष के पौधे

होते हैं वहाँ पास में ही अमृत का काम देनेवाली वनस्पति मिल ही जाती है ।

गाँधी और विनोबा ने अभी अभी देश में जो भ्रमण किया उसकी बात हम छोड़ दें । इनसे पहले बड़े बड़े नेता और देशनायक हमारे यहाँ हुए, परंतु भारत की हर दिशा में जाकर, गाँव गाँव की हालत देखकर और लोगों की रोटी खाकर लोकस्थिति का पूरा पूरा अनुभव यदि किसी ने पहले पहल किया हो तो वह थे स्वामी विवेकानन्द ।

संशय-असंशय से घिरे हुए कालेज के दिनों के बाद स्वामीजी ने साधना शुरू की। रामकृष्ण परमहंस से उन्होंने संशय-निवारण पा लिया, और फिर देशदर्शन किया। मुसलमानों के यहाँ भी उन्होंने रोटी खाई और ईसाइयों के यहाँ भी खाई। गरीबों की रोटी खाई और राजाओं के यहाँ भी खाई। सज्जन-दुर्जन, महात्मा-दुरात्मा, सब तरह के लोगों को देखा। इस प्रकार देश और समाज की पूरी पूरी स्थिति देखने के बाद उन्होंने अपना आत्म-विश्वास प्रकट किया। बुरी हालत के देशदर्शन से उनमें नास्तिकता नहीं आई। जहाँ से हमें दबानेवाली विद्या आई वहाँ जाकर अपने आत्मतेज और ब्रह्मतेज से स्वामी-जी ने पश्चिम को चकित कर दिया।

कोई सिफारिशी संस्था का बल उनके पास नहीं था। अपने ही बल पर उन्होंने विदेश-यात्रा की। और दुनियाँ को उन्होंने बताया कि विश्व के किसी भी धर्म से भारत का धर्म कम नहीं है। किसी और संस्कृति से भारत की

संस्कृति घटिया नहीं है। शायद अधिक है। दुनियाँ को उसे सीखना होगा। वहाँ पर कई लोग उनके शिष्य बने, उनके चरणों में बैठे और उनसे उपदेश लिया। स्वामीजी ने वहाँ पर जो नगाड़ा बजाया उसका घोष भारत पहुँचा और हमारे लोगों में अपनी संस्कृति पर विश्वास पैदा हुआ। अमेरिका से स्वामीजी इंग्लैण्ड गये। और फिर वहाँ से यूरोप के फ्रांस आदि देशों में भी गये। जब वे विदेश-यात्रा से लौटकर आये तब उन्होंने स्वदेश में लंका की राजधानी कोलंबो से लेकर अलमोड़े तक करीब दिग्विजय जैसी मुसाफिरी की।

इतना करके वे रुके नहीं उन्होंने देश भर में दो प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कीं। जगह जगह अद्वैताश्रमों और सेवाश्रमों को खड़ा किया। यह स्वामी विवेकानन्द का ही काम था कि उन्होंने संन्यास आश्रम को नये ढङ्ग से सजीवन किया।

वर्ण और आश्रम के बारे में हम जरा सोचें।

जातिधर्म और कुल-धर्म को गीता ने शाश्वत कहा है। वर्ण-धर्म बाद में पैदा किया गया है। वर्ण-व्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था भी चली। भगवद्गीता में चार वर्णों का उल्लेख विस्तार से आया है पर चार आश्रमों का उल्लेख बहुत कम है। सारी गीता में चार आश्रम का कहीं पुरस्करण नहीं है ऐसा ही कहना चाहिए। अग्नि छोड़कर और वैदिक कर्म छोड़कर जो संन्यास-आश्रम लिया जाता है उसका जरा सा जिक्र ही गीता में है लेकिन

गीता के भगवान् ने संन्यास-आश्रम के स्थान पर संन्यास योग का ही पुरस्करण किया है। वेदविद्या के आग्रही जो पूर्व मीमांसावादी थे, उन्होंने संन्यास-आश्रम को स्वीकार ही नहीं किया। संन्यास-आश्रम को उन्होंने निरा पागल-पन माना था।

बाकी के लोगों ने सिद्धान्त के रूप में संन्यास-आश्रम को अच्छा बताया, फिर भी मध्यकालीन शास्त्रकारों ने उसे हटाना चाहा, यह कहकर कि यह संन्यास आश्रम कलिवर्ज्य है यानी कलियुग में नहीं चलेगा, न चलना चाहिये। इतना कहकर वे इससे मुकर गये। परंतु जब बौद्ध जागृति आयी और बौद्धों ने और जैनों ने श्रमण संस्कृति शुरू की, तब शंकराचार्य ने सोचा कि कलिवर्जित होने पर भी हमें यह संन्यास आश्रम फिर से चलाना चाहिये। अतः उन्होंने हिन्दू धर्म को इस तरह संगठित किया कि उसमें संन्यास आश्रम को विशेष प्रतिष्ठा मिली। संन्यास आश्रम वालों को भी उन्होंने नये प्रकारसे संगठित किया और संन्यासियों के दस मठ बनाये।

शंकराचार्य द्वारा की गयी यह व्यवस्था आज भी चल रही है किन्तु उसमें तेज न रहा। भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग को बढ़ावा देकर हमारे संतों ने संन्यास आश्रम की महत्ता कम कर दी और उसे उपेक्षित बना दिया। संन्यासियों की पर-म्परा चली किन्तु वह केवल परम्परा ही रही। बाद में देश को जगाने के लिए परिव्राजकों की जरूरत है यह देखा स्वामी विवेकानन्द ने और उन्होंने इसे नया रूप दिया।

रामकृष्ण परमहंस के ये शिष्य स्वामी-लोग नये किस्म के संन्यासी थे। विवेकानन्द जी ने यह प्रणाली चलाई कि संन्यासी लोग रहें अद्वैताश्रम में और काम करें सेवाश्रम में। अर्थात् उन्होंने कर्म-प्रवण संन्यास को चलाया। इन लोगों ने विद्यार्थियों के छात्रालय भी चलाये।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने अपना युगकार्य शुरू किया। इससे प्रेरणा पाकर रवीन्द्र ने शांति निकेतन में ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की, अरविंद ने पांडिचेरी आश्रम की स्थापना की। और गाँधीजी ने सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। विनोबा ने पिछले बारह वर्षों में छः नये आश्रमों की स्थापना की है। वास्तव में ये सब आश्रम हमारे लिये आध्यात्मिक-सामाजिक जीवन के प्रयोगालय बने हैं। विज्ञान के लिये जिस प्रकार लेबोरेटरी होती है उसी प्रकार समाज के विकास और उत्थान के लिये आश्रम जरूरी है।

स्वामीजी ने कहा कि संन्यास आश्रम में रहकर हमें बगीचे में साग उगाने का काम भी करना है और मंदिर में जाकर हमें ध्यान में भी बैठना है। हमें सैनिक भी होना है और सेवक भी बनना है। स्वामीजी ने इस प्रकार सारे समाज को बदलने की कोशिश की।

आपको यदि स्वामी विवेकानन्द का हृदय देखना है तो स्वामीजी के लिखे हुए पत्र देखें। मेरे मत में स्वामी विवेकानन्द को समझने के लिये दो ग्रन्थ महत्त्व के हैं। एक तो उनके पत्र और दूसरा निवेदिता का लिखा हुआ

Master As I saw Him. निवेदिता के इस ग्रन्थ में स्वामी विवेकानन्द की मशाल की ज्योति हम देख सकते हैं, जो स्वामीजी ने अपने जीवन को जला-जलाकर प्रकट की थी। बड़ी जल्दी उनका जीवन खत्म हुआ, परन्तु वह जीवन अपने ढङ्ग से कृतार्थ बना। हमारे सारे राष्ट्र में और सारी दुनिया में स्वामीजी बोये गये। चालीस की उम्र पूरी होने से पहिले वे चले गये, परन्तु इतने थोड़े समय में बड़ी शीघ्रता से उन्होंने अपना सारा भारतव्यापी काम किया।

महापुरुषों की जन्मशताब्दी की बात जब हम सोचते हैं तब यह महत्त्व का नहीं कि वे माता के उदर से कब जन्मे थे, परन्तु यह सोचना चाहिये कि कब हमारे हृदय में वे जन्मे? स्वामीजी ने मुझे नास्तिकपन से बचाया। ईश्वर पर विश्वास न करने के वे दिन थे मेरे, जो दिन मनुष्य के जीवन में कभी न कभी आना आवश्यक होता ही है। ऐसी नास्तिकता मुझमें न आती तो मैं केवल परम्पराओं का उपासक और रूढ़िवादीही बना हुआ होता। मेरे जो संशय के दिन थे उनका भी मैं आदरपूर्वक श्राद्ध करता हूँ। वे दिन गये और उसकी जगह ईश्वर पर श्रद्धा फिर से उत्पन्न की न्यायमूर्ति रानडे के धर्मप्रवचनों ने। लेकिन मेरा उद्धार करनेवाले, मेरे हृदय को जाग्रत् करके आगे ले जानेवाले जो युगपुरुष थे, वह थे स्वामीजी, जिनकी तेजस्वी वाणी ने मुझे जगाया।

यहाँ जो नवयुवक हैं और नवयुवतियाँ हैं, वे समझें कि स्वामी विवेकानन्द ने जो किया और कहा, उसी में से हम

लोगों को रवीन्द्रनाथ जैसे नये लोग मिले। उसीमें से अरविंद मिले, और महात्मा गाँधी भी उसीमें से मिले। प्रश्न होगा कि विवेकानन्द का सम्बन्ध अरविन्द से कैसे रहा तो मैं बताता हूँ कि अरविंद के अपने हस्ताक्षरों से लिखी हुई एक नोट बुक मेरे पास थी। उसमें उपनिषद् की अपनी पहिली लेखमाला अरविंद ने लिखी थी, और वह रामकृष्ण-विवेकानन्द को अर्पित की गयी थी। वह नोट बुक मैंने पांडिचेरी आश्रम को भेंट की है।

महात्मा गाँधी ने रामकृष्ण की जीवनी की प्रस्तावना में उन्हें God-man (देवमानव) कहा है।

अपने जमाने का कार्य करनेवाले विवेकानन्द अकेले नहीं थे। तीन आत्माओं ने मिलकर वह कार्य किया था। श्री रामकृष्ण परमहंस ने हमें वेदान्त के अध्यात्म का मर्म दे दिया। विवेकानन्द ने उस अध्यात्म का मानवसेवा में विनियोग करके बताया। उनकी शिक्षाओं ने बताया कि किस रीति से अध्यात्म अपनाया जाय। और भगिनी निवेदिता ने हमें उसका समाजविज्ञान दे दिया। इस त्रिमूर्ति को एक साथ लेकर हमें सोचना है। तीनों का साहित्य साथ लेकर पढ़ना है। गुजरात में इस शताब्दी के अवसर पर विवेकानन्द साहित्य प्रकट किया जा रहा है। उन लोगों से मैंने कहा कि रामकृष्ण - विवेकानन्द-निवेदिता, तीनों की जीवनी और उनका साहित्य एकत्र कर दें तब उस युगकार्य की—मानवकार्य की—जानकारी आज के जमाने को मिलेगी।

रामकृष्ण ऐसे कुशल गुरु थे कि जब वे एक विद्यार्थी को उसके अनुकूल साधना-उपासना बताते, तब अपने दूसरे शिष्यों को वहाँ उपस्थित नहीं रहने देते थे। परमहंस के बाद अपने सब गुरु-भाइयों को साथ लेकर चलने का और आध्यात्मिक परिवार बनाने का काम स्वामी विवेकानन्द ने किया।

चार-चार शादियाँ करनेवाले गृहस्थी भी कई दफे निपुत्रिक होते हैं किन्तु संन्यासी की परम्परा कभी निपुत्रिक नहीं बनी। हमारे इस भारत में संन्यासी-परम्परा अखंड चालू ही है।

यह भी भारत के समाज के हित में बड़ी अच्छी बात हुई कि हिन्दू धर्म के जागरण के साथ स्वामी विवेकानन्द ने हर धर्म के प्रति आदर से सिर झुकाया है। इस्लाम, यहूदी, ईसाई, बौद्ध सब धर्मों को उन्होंने अपनी श्रद्धा अर्पित की है।

जिस धर्म का विशेष दिन हो उस दिन उन्होंने अपने आश्रम में बदल-बदलकर उपासनाएँ चलाईं। क्रिसमस के दिन रामकृष्ण परमहंस के चित्र में ईसामसीह को देखना यह स्वामी विवेकानन्दजी की नई साधना है। रामकृष्ण परमहंस ने ईसाइयों की, इस्लाम की और अन्यों की साधनाएँ करके अनुभव से कहा कि सब धर्म सही हैं। इसी अनुभव को उन्होंने अपनी संस्थाओं के द्वारा फैलाया। विवेकानन्द के बाद गाँधीजी ने अपने आश्रम की प्रार्थना

में सब धर्मों की प्रार्थना एकत्रित की और सर्व-धर्म-समभाव चलाया। अब हम कहने लगे कि सर्व-धर्म-समभाव से भी आगे बढ़ कर हमें सर्व-धर्म-ममभाव कायम करना है। दुनिया में इस समय सब धर्मों के बीच शीत युद्ध चलता है। आफ्रिका में मुसलमान और ईसाई प्रचारक मौन संघर्ष कर रहे हैं। वहाँ पर जाकर समन्वय द्वारा शांति की स्थापना करने का काम भारत करेगा? एक ग्रंथ, एक पैगम्बर और एक ही किस्म की साधना को जो मानते हैं वे आखिरकार बनते हैं एक-एक पंथ। व्यापक धर्म तो सब पैगम्बरों की वाणी का आदर के साथ स्वीकार ही करता है।

स्वामीजी केवल दार्शनिक तत्त्वज्ञानी ही नहीं थे, संगीत भी अच्छा जानते थे। बजवैये भी थे। गाने-बजाने के अतिरिक्त वे कुश्ती करना भी जानते थे। जितना काम दस बरस में नहीं किया जा सकता उतना काम एक-एक वर्ष में उन्होंने किया। इसलिए मैं कहता हूँ कि सच्चे अर्थ में स्वामी विवेकानन्द युगपुरुष थे। केवल भारत के ही युगपुरुष नहीं सारे जगत् के युगपुरुष थे। आज उनके जीवन से, उनके कार्य से और उनके साहित्य से हम प्रेरणा लें।

स्वामीजी ने केवल पढ़ने की बात नहीं कही है। उन्होंने कहा है कि हमें ग्रंथ पढ़ना है और उसका सार ग्रहण करके काम करना है। जिस तरह हम खेतों से धान ले

आते हैं और घास को अलग कर देते हैं, इसी तरह हमें करना चाहिये। शास्त्रों में लिखा है—

'ग्रंथम् अभ्यस्य मेधावी, ज्ञान-विज्ञान तत्परः,
पलालं इव धान्यार्शी त्यजेद् ग्रंथम् अशेषतः।'

हमें कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि के द्वारा जीवन को संपूर्ण करना है। इसका अनेक रूप में हमें विस्तार करना है। ऐसा करेंगे तब हम अपने को कृतार्थ करेंगे। ऐसा प्रयत्न हम करते रहें और साथ में प्रार्थना करें कि इन सब स्त्री-पुरुषों के हृदय में स्वामीजी नये प्रकार से जन्म लें।

— 'मंगल - प्रभात से साभार।

साकार और निराकार ये दोनों किस प्रकार एक हैं? जैसे जल और बरफ। जब जल जम जाता है तब बरफ कहलाता है, और साकार हो जाता है। और जब गलकर जल हो जाता है, तब निराकार कहलाता है।

श्री रामकृष्ण।

हिन्दुओं की जीवन - योजना

श्रीमत् स्वामी बुधानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मिशन, न्यूयार्क ।

आधुनिक युग योजनाओं का युग है। आजकल 'योजना' शब्द इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि हम इसकी धारणा के अभाव में कुछ सोच ही नहीं सकते, फिर चाहे वह आधुनिक लोकतंत्रात्मक शासनप्रणाली हो या अधिनायकवादी, चाहे वह आधुनिक गरम युद्ध हो अथवा शीत युद्ध, चाहे वह संसार के अगम्य पर्वत-शिखरों की चढ़ाई का कार्य हो अथवा सागर के अतल तल में गोता लगाने का कार्य।

अजेय हिटलर शत्रुराष्ट्रों की संगठित योजना के द्वारा ही परास्त हुआ था। साम्यवादी शासनप्रणाली से संचालित रूस की आधुनिक प्रगति योजना की सफलता की ही ओर संकेत करती है। अमेरिका जैसे स्वतंत्र उद्योगों वाले देश में कोई भी महत्वपूर्ण उद्योग योजनारहित नहीं होता। असल में प्रतियोगिता पूर्ण समाज में एक शासकीय केन्द्रीय योजना के स्थान की पूर्ति अनेक अशासकीय तथा जनता की समितियाँ अपनी-अपनी योजना के द्वारा किया करती हैं।

गौरीशंकर की चोटी पर मनुष्य का आरोहण योजना की सफलता का ही उद्घोष है।

यदि आप संयुक्त-राष्ट्र- संघ के यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य-विभाग या विश्व खाद्यान्न- समिति के कार्यों को देखें तो आपको ज्ञात होगा कि इन विभागों के माध्यम से कितनी ही योजनाएँ निरन्तर कार्यान्वित हो रही हैं। आज यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि योजना का निर्माण राष्ट्रीय संदर्भ की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर हो। यही कारण है कि आधुनिक युग में सांख्यिकी-विज्ञान काफी महत्वपूर्ण हो गया है।

आप भारत की पंचवर्षीय योजनाओं को समझे बिना उसके सम्बन्ध में कोई धारणा नहीं बना सकते। जो अर्ध-विकसित देश गरीबी, भुखमरी, रोग और अन्य जटिल समस्याओं के बन्धन से आज स्वयं को धीरे-धीरे मुक्त कर रहे हैं, वे योजना के द्वारा ही अपनी राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को सुधार सकते हैं। भले ही आधुनिक युग में साम्यवादियों ने योजना की धारणा का प्रचार किया है किन्तु योजना बनाने के लिए राष्ट्रों का साम्यवादी बनना आवश्यक नहीं है।

जनसंख्या-विशेषज्ञों ने जनसंख्या की अतीव वृद्धि को देखकर यह घोषणा की है कि संसार में मनुष्यों की संख्या वड़ी तेजी से बढ़ रही है और यदि हम आगामी पीढ़ी को आहार देना चाहते हैं तो हमें "परिवार नियोजन" की एकमात्र विधि का पालन करना पड़ेगा।

जिस देश के साधनों में निरन्तर कमी होती जा रही है और जहाँ की जनसंख्या वड़ी तेजी से बढ़ रही है, उस

देश में आगामी पीढ़ी को सुख-सुविधा प्रदान करने के लिए केवल राष्ट्रीय स्तर पर निर्मित की गई योजना भी अधिक कारगर सिद्ध नहीं होती; किन्तु वह पूरी तरह से निरर्थक भी नहीं है। आज तो ऐसी योजना की आवश्यकता महसूस की जा रही है जिसका निर्माण विश्व के स्तर पर हो। आपको अमेरिका में गेहूँ के उत्पादन की योजना इसलिए बनानी पड़ती है ताकि अकालग्रस्त देशों के भूख से बिलबिलाते हुए लोगों के पेट में अन्न पहुँच सके। सुदूर देशों के पुतलीघरों के करघों को निरन्तर चलाते रहने के लिए मिस्र में कपास की पैदावार को बढ़ाना पड़ता है। आज मनुष्य बाध्य होकर यह अनुभव कर रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से वही योजना सफल हो सकती है जिसे संसार की भूमिका पर निर्मित किया गया हो।

योजना आधुनिक युग की एक प्रवृत्ति ही नहीं है अपितु वह एक ऐसे संसार में सभ्य एवं सुखी जीवन व्यतीत करने का आवश्यक विधान है। जहाँ मानव के मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक नहीं तो कम से कम सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया गया है।

जब आदिम व्यक्ति को भूख लगती थी तो वह अपने पत्थर के हथियारों को लेकर आखेट करने निकल जाता था। किसी जानवर को मारकर वह उसका माँस खा लेता था और अपनी गुफा में पहुँचकर तब तक पड़ा रहता था जब तक उसे फिर से भूख नहीं सताती थी। अपनी संतानों

के सम्बन्ध में सोचना तो उसने बहुत बाद में सीखा था। आधुनिक मनुष्य के पास अनेक सुरक्षा संसाधन हैं। आदिम मनुष्य और आधुनिक मनुष्य के बीच की विभाजक रेखा वह योजना ही है जिसमें दूरदर्शिता, भविष्यचिंता तथा भविष्यविधान और अन्य सामंजस्यमूलक व्यवस्थाओं का समाहार होता है।

(दो)

इतनी अधिक योजना के बाद आज मनुष्य की क्या स्थिति है? क्या उसने जीवन के रहस्यात्मक आवेग को नियंत्रित एवं समन्वित करने की विधियों को जान लिया है? क्या वह जीवन की अतल गहराई, अनन्त विस्तार और उसके अनेक पक्षों को समझ सका है? क्या उसकी योजना जीवन के सूक्ष्मतर आयामों से भी सम्बन्धित है? क्या उसने प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ऐसे रास्ते को खोज लिया है जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की प्रत्येक अवस्था के सौन्दर्य को, उसके महत्त्व को और उसकी अर्थवत्ता को जान सकता है? क्या आधुनिक मानव समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और व्यक्तिगत सुख की खोज की कामना को ऐसे साधनों के रूप में प्रयुक्त कर सका है जिससे जीवन की बढ़ती हुई अर्थवत्ता को जाना जा सके? क्या उसने किसी ऐसी विधि का आविष्कार कर लिया है जिसके माध्यम से मनुष्य की पाशविक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का समाहार हो और वह आत्म साक्षात्कार करके मुक्त हो जाय?

आधुनिक मनुष्य की योजना-प्रणाली के सम्बन्ध में जो दृष्टान्त उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम इन प्रश्नों में से किसी का भी विधानात्मक उत्तर नहीं दे सकते। जीवन केवल राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष तक ही सीमित नहीं है, वह अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है किन्तु मनुष्य की योजना-प्रणाली इस विशाल जीवन के एक छोर को ही छू पाती है।

और, अधिकांश व्यक्तियों के जीवन का एक बड़ा भाग अपरिपक्व, अनगढ़ एवं अधबना रह जाता है जिसकी ओर शायद ही किसी का ध्यान जाता हो। बिरले ही लोग जीवन में सफल हो पाते हैं और वे ही यह जानते हैं कि हम अपने समगसत जीवन को किसप्रकार संयमित एवं नियमित कर सकते हैं। व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन के एक-तिहाई या एक-चौथाई भाग में ही युवा और क्रिया-शील बना रहता है। जीवन के इस सोपान पर पहुँचकर वह सोचता है कि जीवन तो उसकी मुट्ठी में है। वह अपनी बुद्धि और इन्द्रियों की शक्ति के माध्यम से संसार की वस्तुओं को अपनी ओर खींचता है और उसका नगण्य अंश ही अपने मत के अनुरूप बना पाता है। पर शीघ्र ही उसके पैरों तले की जमीन खिसकने लगती है और चीजें उसकी पकड़ से बाहर होने लगती हैं।

जब उसकी आँखों के सामने ही उसका युवा और बलिष्ठ पुत्र उसके कंधों से ऊँचा हो जाता है और जब उसकी धुँधली आँखों में उसकी पुत्री के नवयौवन की विद्युत् वल्लरी कौंध सी जाती है तब वह अनुभव करने लगता है

कि अब उसका संसार में कोई प्रयोजन नहीं रह गया और अब वह अपने को एक अनुपयोगी अवशेष के रूप में पाता है।

डा० सी० जी० जंग अपनी पुस्तक "आत्मान्वेषण में तत्पर आधुनिक मनुष्य" में लिखते हैं, "विविध सांख्यिकी गणनाओं से यह पता चला है कि प्रायः व्यक्ति चालीस वर्षों के पश्चात् मानसिक विघटन के रोगी हो जाते हैं तथा ऐसे रोगियों की संख्या में अतिशय वृद्धि हुई है। स्त्रियों में तो यह विघटन कुछ समय पहले से ही प्रारम्भ हो जाता है।" डा० जंग के मत से इसका कारण यह है कि "हम बिना किसी पूर्व तैयारी के जीवन की संध्या-वेला में पदार्पण करते हैं तथा हमारे मन में ऐसी मिथ्या धारणा बनी रहती है कि हमारे पूर्वकालीन आदर्श हमारी अभी भी सहायता करेंगे।"

आप प्रतिदिन नर नारियों की इस करुण परिणति के उदाहरण देख सकते हैं, जिनमें यह स्वीकार करने का साहस नहीं रहता कि अब उनका समय समाप्त हो गया है। डा० जंग इस संदर्भ में सभी लोगों के लिए एक बड़ी अच्छी बात कहते हैं। उनका कथन है कि "जिस प्रकार हमने अपने जीवन के उषःकाल को बिताया है इसी प्रकार हम जीवन की सन्ध्या-वेला को व्यतीत नहीं कर सकते; क्योंकि यह सम्भव है कि जिस वस्तु को हम उषः वेला में महत्त्वपूर्ण समझते हैं वह सान्ध्य-वेला में महत्त्वहीन हो जाय तथा सबेरे हम जिस बात को सच समझते हैं वही

शाम को झूठी हो सकती है।" यहाँ डा० जंग ने जीवन के एक ऐसे पक्ष की ओर इशारा किया है जिसकी ओर अधिकांश व्यक्तियों की नजर नहीं जाती।

एक दिन में सवेरा भी होता है, दोपहर भी होता है, शाम भी होती है और रात भी होती है। ऐसा दिन नहीं देखा गया है जहाँ केवल सबेरा-सबेरा ही हो अथवा दोपहर ही दोपहर हो। कोई भी अकेला अंश पूर्ण को नहीं बना सकता और न पूर्ण ही किसी अंश के अभाव में बन सकता है। प्रत्येक अंश का, अपनी जगह एवं अन्य अंशों की तुलना में, अपना एक सौन्दर्य और महत्त्व होता है। एक ही प्राकृतिक परिवेश में यह आवश्यक नहीं कि डूबता हुआ सूरज उगते हुए सूरज से कम सुन्दर दिखे। यही उपमा मानव जीवन के विषय में भी प्रयुक्त की जा सकती है।

आयु के एक सीमा पार करने पर ही हम यह जानते हैं कि हम बड़े हो गए हैं। जब एक बच्चा अपने खिलौने से खेलता है, उसे गले लगाता है, चूमता है और उससे बातें करता है तो वह दृश्य बड़ा सुन्दर होता है, किन्तु बच्चे के समान ही कोई बड़ी लड़की यदि खिलौने को चूमे तो वह बड़ा भद्दा दिखेगा। जब फूल पूरी तरह से खिल जाता है और उसके पराग का पान करने के लिए भौंरा उसके चारों ओर गुनगुनाने लगता है तब वहाँ एक कविता होती है, एक गीत होता है। और, जब फूल की पँखुरियाँ झर जाती हैं और उसमें फल लगने लगता है तब क्या इस

दृश्य में अपनी विशिष्ट सुन्दरता और अर्थवत्ता नहीं होती ? इसी प्रकार, जब चाँदी के समान सफेद दाढ़ी वाला अस्सी वर्ष का वृद्ध पुरुष इच्छाओं के समस्त बंधनों को छिन्न-भिन्न करके माया के आवरण को चीर डालता है और शाश्वत आनन्द के स्रोत को जानकर समस्त जीवधारियों के प्रति स्वर्गिक प्रेम की अविराम धारा बन जाता है, तो क्या उसका अपना एक अपूर्व सौन्दर्य नहीं है—भले ही उसका मुँह पोपला हो और उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त ?

जब वृद्ध पुरुष और स्त्रियाँ जीवन के अर्थ को खोजने के लिए फिर से जीवन की धारा के उद्गम की ओर लौटना चाहते हैं तब उन्हें बड़ी निराशा होती है। मनुष्य जानते हुए भी अज्ञानियों के समान अपने प्रयत्नों के द्वारा इस निराशा की वृद्धि में ही लगा रहता है। यदि कोई व्यक्ति स्वयं को जीवन की धारा की अनुकूल दिशा में ही बहने दे और स्वयं को जीवन के विविध सोपानों और अवस्थाओं के द्वारा परिष्कृत एवं परिवर्तित होने दे तो क्या वह जीवन के उस वृद्धिमान एवं समृद्ध उद्देश्य को नहीं समझ सकेगा, जो आयु की वृद्धि के साथ ही अधिक विकसित, समृद्ध एवं स्वस्थ होता जाता है ? आधुनिक मनुष्य की योजना में इन प्रश्नों का उत्तर नहीं है।

(तीन)

हिन्दुओं की जीवन-योजना के सम्बन्ध में सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि वह बड़ी प्राचीन है और ईसा मसीह के जन्म के हजार वर्ष से भी अधिक पहले से

सोची गयी है, तथापि वह उन समस्त प्रश्नों का समाधान करने में प्रस्तुत है, जिनका आधुनिक मानव की योजना नकारात्मक उत्तर देती है। हिन्दुओं की जीवन-योजना की प्राचीनता के आधार पर यह पूछा जा सकता है कि इतनी पुरानी धारणा हमारे किस काम आ सकती है। किन्तु हम जैसे जैसे इस पर विचार करेंगे, हम यह समझ सकेंगे कि हिन्दुओं की जीवन-योजना आधुनिक जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप है या नहीं।

(१) हिन्दुओं की जीवन-योजना कोई एक सहज सरल धारणा नहीं है अपितु इसके अन्तर्गत अनेक धारणाएँ समाहित हैं जो सभी आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष रूपी चरम लक्ष्य के डोरे में पिरोयी हुई हैं।

हिन्दुओं की जीवन-योजना मनुष्य को उसके सभी रूपों में स्वीकार करती है। हिन्दुओं की योजना में मनुष्य से सम्बन्धित कोई वस्तु नहीं छूटी है। उसके अन्तर्गत मनुष्य की संसार में स्थिति, उसका जटिल समाज, उसकी मसृण एवं उद्दाम भावनाएँ एवं लालसाएँ, उसकी महत्त्वाकांक्षा और उसका वर्तमान एवं भविष्य तथा अन्य सभी बातें समाहित हैं। ऐसा लगता है कि हिन्दुओं ने योजना बनाने के पहले जीवन को पूरी तरह से समझ लिया था। जीवन विषयक अन्य धारणाएँ अपूर्ण और खण्डित पाई गई हैं किन्तु यह धारणा समग्रगत है। अनेक योजनाएँ मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों पर ही आधारित हैं और उसकी शुभ प्रवृत्तियों के लिए वहाँ स्थान नहीं है, किन्तु

हिन्दुओं की जीवन-योजना मनुष्य को समग्र रूप से स्वीकार करती है।

यहाँ हम हिन्दुओं की जीवन-योजना को पूरे विस्तार के साथ प्रकट नहीं करेंगे, भले ही वह अत्यन्त रुचिकर और ज्ञानवर्धक क्यों न हो। यहाँ हम उसकी एक रूपरेखा ही प्रस्तुत करेंगे जो अपने में ही अत्यन्त विलक्षण है। इस रूपरेखा के अन्तर्गत हम हिन्दुओं की समाज विषयक धारणा, जीवन के सोपान और मूल्यों पर ही सामान्य रूप से चर्चा करेंगे।

हिन्दुओं की जीवन-योजना पर विचार करने के पहले हमें दो बातें समझ लेनी चाहिए—

(१) हिन्दुओं का जगत् विषयक दृष्टिकोण और हिन्दुओं की मनुष्य विषयक धारणा।

(२) हिन्दुओं का जगत् विषयक दृष्टिकोण क्या है।

(अ) हिन्दुओं का मत है कि संसार की उत्पत्ति आकस्मिक रूप से प्रकृति की अंधी शक्तियों के द्वारा नहीं हुई है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दू संसार के भौतिक पक्ष को स्वीकार नहीं करता।

(आ) वह संसार को ईश्वर के द्वारा निर्मित मानता है। यद्यपि ईश्वर जगत् में प्रच्छन्न है किन्तु वही जगत् का केन्द्रीय तत्त्व है।

(इ) इसलिए वह संसार को आत्म-संस्कार और मुक्ति-साधना की नैतिक भूमि मानता है।

(ई) इस नैतिक जगत् में कर्म के नियमों में कभी भी व्यतिक्रम नहीं होता। दरअसल इतिहास का निर्माण कर्म के ताने-बाने से ही होता है।

(उ) हिन्दू यह मानते हैं कि जगत् एक माया और प्रपंच-जाल है क्योंकि यह वास्तव में वैसा नहीं होता जैसा वह दिखता है। यद्यपि भौतिकता और विविधता ही संसार का मूल तत्त्व प्रतीत होती है तथापि जब हम इसपर गम्भीरता से विचार करेंगे तो हमें ज्ञात होगा कि विविधता और भौतिकता मिथ्या वस्तुएँ हैं। चरमतत्त्व की दृष्टि से यह जगत् प्रपंचमात्र है। हिन्दू प्रपंच का भी अस्तित्व मानते हैं तथा इसे तुच्छ नहिं समझते किन्तु वे यह जानते हैं कि सत्य तो केवल प्रपंच-विधायक है, प्रपंच नहीं।

(२) मनुष्य के विषय में हिन्दुओं की कैसी धारणा है?

(अ) कोई भी हिन्दू यह नहीं मानता कि मनुष्य एक स्थूल पिण्ड मात्र ही है। किन्तु वह मानता है कि इस स्थूल पिण्ड के भीतर एक सूक्ष्म पिण्ड भी रहता है जिसे मनस कहते हैं। इस मनस् के भीतर भी एक ऐसा महत्तर तत्त्व छिपा हुआ है जो शरीर और मन के समान परिवर्तित नहीं होता और जो मृत्यु से परे होता है। यह आत्मा है और यही मनुष्य का सारभूत तत्त्व है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकना है कि मनुष्य भौतिक और दैवी, पाशविक और आध्यात्मिक, जड़ और चेतन तत्त्वों से बना हुआ है।

(आ) हिन्दू प्रत्येक स्त्री और पुरुष को देहवान् आत्मा के रूप में देखता है, आत्मावान् देह के रूप में नहीं। जिसप्रकार हम पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र पहनते हैं उसीप्रकार आत्मा एक शरीर के बाद दूसरा शरीर धारण करती है। यह परिवर्तन कर्म-नियम के अनुसार घटित होता है।

(इ) प्रत्येक आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। आत्मा और परमात्मा तद्रूप और अभिन्न हैं। आत्मा और परमात्मा की तद्रूपता का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।

(ई) मनुष्य का उद्देश्य इसी तादात्म्य-भाव को उपलब्ध करना है जिससे वह दुख, भ्रम और अज्ञान से मुक्त होकर अपने नित्य सच्चिदानन्दमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

(४) यह स्मरणीय है कि हिन्दुओं की जीवन-योजना उनकी मनुष्य एवं जगत् सम्बन्धी अपनी धारणा पर आधारित है। स्पष्ट है कि वह मार्क्स और फ्रायड के संसार और उसके निवासियों के लिए नहीं है। इसलिए हम हिन्दुओं की मनुष्य और जगत् विषयक धारणा के सन्दर्भ जना को समझ सकते हैं।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हिन्दुओं की योजना कुछ मुट्ठी भर चुने हुए लोगों के लिए नहीं है अपितु यह उस समस्त हिन्दू जाति के लिए निर्मित की गई है जहाँ परस्पर-विरोधी अभिरुचियों वाले स्त्री-पुरुष भरे पड़े हैं। यहाँ जहाँ अतिशय उदात्त प्रवृत्तियों वाले

लोग हैं, वहीं निम्नतम प्रवृत्तियों को प्रश्रय देनेवालों की भी कमी नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में अनेक वर्ण वाले विभिन्न जातियों का आवास रहा है। फिर, इतिहास के साथ, व्यापारी अथवा आक्रमणकारी के रूप में, फारसी, यूनानी, सीथियन, बर्थैरियन, शक, कुशाण और हुणों का भारत में आगमन हुआ और वे कालान्तर में हिन्दू समाज में पचा लिए गये।

इन विरोधी प्रवृत्तियों वाली जातियों को समाहित करके एक सामञ्जस्यपूर्ण समाज का निर्माण करना एक महान् प्रतिभा का कार्य था। हिन्दुओं ने इस चमत्कारिक कार्य को 'वर्णाश्रम-धर्म' और 'पुरुषार्थ' की योजना के माध्यम से सम्पन्न किया। वर्ण से जाति या वर्ग का बोध होता है; आश्रम, जीवन के विविध सोपानों का सूचक है; और पुरुषार्थ का अर्थ है जीवन के मूल्य।

(क्रमशः)

—'वेदान्त फॉर ईस्ट एंड वेस्ट' से साभार।

—x—

आदमी का कर्त्तव्य परामात्मा की ओर लगी शक्तियों को पूर्ण बनाना है, और विपरीत को दबा देना है।

—महात्मा गांधी

वह महान् द्रष्टा

प्राध्यापक प्र. ग. सहस्रबुद्धे, एम. ए., एल. एल. बी

आज हम योजनाओं के युग में विचरण कर रहे हैं। नित्य नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं और उनके लिए विपुल धन-राशि भी व्यय की जा रही है, किन्तु ये योजनाएँ भारतीय हृदय में पैठी हुई नहीं दिखतीं। इसका क्या कारण है? जिस प्रकार कमजोर नींव पर उठाया गया मकान टिकाऊ नहीं होता और उसकी दीवारों में जगह-जगह पर दरारें पड़ जाती हैं उसी प्रकार की दशा हमारे देश की हो रही है। अध्यात्म हमारे देश की भित्ति है और हमारे देश का मंदिर इसी भित्ति पर भली-भाँति खड़ा हो सकता है। अध्यात्म हमारे देश की आत्मा है और जबतक इसका संचार हमारे देश की देह में नहीं होगा तबतक उसका समस्त शृंगार निर्जीव देह को सजाने से अधिक महत्त्व का नहीं होगा।

सौ वर्ष पहले जिस महापुरुष ने जन्म लिया था उसने भारत की आत्मा का दर्शन किया था। उसने हमें बताया कि भारत की आत्मा उसकी अध्यात्म विद्या है। अध्यात्म ही विवेकानन्द जी के जीवन की, उनकी कल्पनाओं की और उनके आदर्शों की नींव थी। अध्यात्म का अर्थ प्रत्येक वस्तु के अंतरंग में प्रवेश करना है, किन्तु कई व्यक्ति इसका अर्थ व्यावहारिक जीवन से पलायन करना समझते हैं। वे

अध्यात्म को पलायनवाद समझते हैं तथा इसे चिंताओं और संकटों से भागने का मार्ग मानकर इसकी अवहेलना भी करते हैं।

किन्तु विवेकानन्दजी ने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समन्वय किया था। उन्होंने द्वैत में अद्वैत की स्थापना की थी। आज एक ओर जहाँ अमेरिका अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की घोषणा कर रहा है तो दूसरी ओर रूस अपनी सामाजिक उन्नति की दुन्दुभी बजा रहा है। असल में ये दोनों देश अपनी-अपनी विशेषता पर जोर देने के कारण अतिवादी बन गए हैं और उनकी विचार-प्रणालियाँ मानवता के लिए एक भयानक अभिशाप बन गई हैं।

स्वामी जी ने जहाँ हमें एक ओर व्यक्तिगत उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य, सेवा, त्याग, अध्यवसाय, ध्येयवाद और ध्यान-धारणा का आदेश दिया है, वहीं दूसरी ओर समाज के उद्धार के लिए हमें अपने सुरभित जीवन-सुमन को अर्पित करने की भी आज्ञा दी है। हम देवता को बासे और कुम्हलाए फूल अर्पित नहीं करते अपितु उनके चरणों में सद्यः विकसित और सुरभित पुष्प ही चढ़ाते हैं। इसीलिए स्वामीजी ने आत्मोन्नति के लिए जितना आग्रह किया, उतने ही आग्रह से मानवता के लिए भारतमाता के चरणों में स्वयं को समर्पित करने का उपदेश दिया।

श्रीरामकृष्ण देव के कुछ शिष्य पहले मानते थे कि सारे धर्मों का उद्देश्य आत्मोन्नति ही है और प्रत्येक व्यक्ति को एकांत वास करते हुए ध्यान-धारणा में मग्न रहना

चाहिए। वे समझते थे कि श्रीरामकृष्णदेव के जीवन और उनके उपदेशों का अनुशीलन कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें गम्भीर शब्दों में चेतावनी देते हुए कहा था, "क्या तुम लोग ऐसा समझते हो कि श्रीरामकृष्णदेव को तुम लोगों ने मुझसे अधिक समझा है? तुम लोग जिस प्रकार की भक्ति का आग्रह करते हो वह तो बुद्धिहीनों की भावुकता है। ऐसी भक्ति मनुष्य को कायर बनाती है—अकर्मण्य बनाती है। यदि मैं अपने देशवासी भाइयों को भयावह तमोगुण के सागर में डूबने से बचा सका, यदि मैं उन्हें कर्मयोग का पाठ पढ़ाकर सच्चे मनुष्यों के समान स्वावलम्बी बना सका तो इसके लिए एक बार तो क्या हजार बार मुझे नरक में क्यों न जाना पड़े, मैं इसके लिये सदैव तैयार रहूँगा।"

ईसप नीति में एक बारहसिंगे की कथा है जिसे अपने वृक्ष के समान आड़े-तिरछे फैले हुए सींगों का बड़ा घमण्ड था और जो अपने पैरों को तुच्छ समझता था। किन्तु जब एक शिकारी ने उसका पीछा किया तो उसे दूसरी ही अनुभूति हुई। पैरों ने तो उसे शिकारी से बचाने की काफी कोशिश की पर उसके सुन्दर सींग झाड़ियों में फँस गए और अन्त में उस बारहसिंगे को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

हमारा धर्मविषयक दृष्टिकोण भी ठीक उसी बारहसिंगे के समान है। हमें जिसका आदर करना चाहिए हम

उसकी उपेक्षा करते हैं और जिसको श्रेष्ठ मानना चाहिए उसे हम तुच्छ समझते हैं। असल में धर्म का अर्थ समाज को धारण करना है। किन्तु हम धर्म को तुच्छ समझकर गर्व का अनुभव करते हैं। जो हमारी संस्कृति का वास्तविक स्रोत है, हमने उसकी ओर से अपना मुख फेर लिया है और अर्थहीन नाच-गानों और मनोरंजन को ही हम संस्कृति की संज्ञा देकर गौरव का अनुभव करने लगे हैं। असल में हम मृगतृष्णा में फँस गए हैं।

स्वामी विवेकानन्द जी ने अमेरिका के सर्वधर्म सम्मेलन के अपने प्रथम व्याख्यान में सिंह-गम्भीर वाणी में घोषणा की थी, "मुझे गर्व है कि मेरा जन्म एक ऐसे धर्म में हुआ है जो समस्त संसार को सहिष्णुता और हर सम्प्रदाय का सम्मान करने की शिक्षा निरन्तर देता रहा है। अन्य धर्मों के विषय में हम सहिष्णुता की नीति अपनाते हैं क्योंकि हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि सभी धर्म सत्य हैं।"

आज प्रत्येक भारतीय को अपने धर्म के सम्बन्ध में अभिमान होना चाहिए। धर्म अफीम की गोली नहीं है, धर्म तो अमृत भरा कलश है। धर्म तिरस्कार की वस्तु नहीं है अपितु वह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन को सुरभित करनेवाली कस्तूरी है। स्वामीजी का जीवन और कृतित्व हमें इसी बात की शिक्षा देता है।

स्वामी विवेकानन्द जी एक महान् द्रष्टा थे। उन्होंने अपने समय में ही ऐसी योजनाएँ तैयार की थीं जो आज

के युग में हमें बहुत उपयोगी प्रतीत हो रही हैं। यदि हम इनकी उपेक्षा करेंगे तो हमारा यह कार्य उस अज्ञानी व्यक्ति के समान होगा जो 'चिंतामणि' के होते हुए भी भिक्षा माँगता है। जीवन के सभी पक्षों को—संगीत से लेकर आत्मसंस्कार एवं व्यायाम से लेकर उद्योग-धंधों को—ध्यान में रखते हुए उन्होंने हमारा मार्ग निर्धारित किया है। यदि हम उनके द्वारा दिखाए गए मार्ग पर नहीं चलेंगे तो अपने ही पैरों में आप ही कुल्हाड़ी चलाएँगे।

स्वामी जी का निर्देशन भावुकतापूर्ण या कल्पना-प्रसूत नहीं है। उनकी शिक्षा पूर्णतः व्यावहारिक एवं इहपर फलदायी है। उन्होंने युवकों को अपने शरीर को बलिष्ठ बनाने का उपदेश दिया है—"हम बहुत सी बातें सोचते हैं किन्तु उनमें से किसी बात को अपने आचरण में प्रत्यक्ष रूप से नहीं उतारते। हम तोते के समान बन गए हैं जो टें-टें तो करता है किन्तु कोई कार्य नहीं करता। इस स्थिति का क्या कारण है? शारीरिक दुर्बलता ही इसका एकमात्र कारण है। इसलिए हमारे युवकों को शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम इस कार्य में सफल हो गए तो हम धर्म के मार्ग में सहज रूप से चल सकते हैं। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—इस उक्ति को युवकों को कभी नहीं भूलना चाहिए। मेरे युवक मित्रो! मेरा तुमसे एक ही अनुरोध है—वह यह कि पहले शारीरिक बल अर्जित करो। गीता पढ़ने की अपेक्षा तुम फुटबाल खेलकर स्वर्ग के समीप शीघ्रता से पहुँच सकोगे।"

आज हमें जातीयता के विरुद्ध अनेक नारे सुनाई देते हैं। जगह जगह भावात्मक एकता के सम्मेलन किए जाते हैं और निरर्थक चर्चाएँ की जाती हैं। एक कहावत प्रचलित है "मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।" ठीक यही स्थिति हमारे देश की है। हर जिले में, और हर गाँव में जातीयता तथा अन्य फूट डालनेवाली प्रवृत्तियाँ तीव्र हो रही हैं। हम नहीं जानते कि हमें क्या करना है और हमारा साध्य क्या है, इसीलिए हमारे समस्त उपाय निष्फल प्रतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार एक प्रवीण चिकित्सक रोग के मूल कारण को बड़ी कुशलता से ढूँढ़ निकालता है उसी प्रकार स्वामीजी ने हमारी वर्तमान स्थिति के कारणों की बड़ी स्पष्ट विवेचना की है। वे कहते हैं—

"समाज में भिन्न-भिन्न अभिरुचियों के लोग रहते हैं, इसलिए जाति-भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सभी एक ही कार्य को समान कौशल से नहीं कर सकते हैं। यदि कोई समाज के नियमन की कला में पारंगत होता है तो दूसरा जूते बनाने की कला में दक्ष होता है। किन्तु इसी आधार पर हम एक को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं कह सकते क्योंकि एक-दूसरे की कला एक-दूसरे के लिए दुःसाध्य है।...जाति भेद तो हमेशा रहेंगे। उन्हें तुम कभी नष्ट नहीं कर सकते। जहाँ मनुष्य समाज में रहेगा वहाँ जाति-भेद आवश्यक रूप से होगा। फिर भी, किसी विशेष जाति को किसी भी कारण से दूसरी जाति की अपेक्षा विशेष अधिकार नहीं मिलना चाहिए। हमें विशेषाधिकार के

पागलपन को बिलकुल निकाल देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही परमेश्वर व्याप्त है; भले ही वह कोयला बेचे या वेदान्त के तत्त्वों का ज्ञाता हो। हमें इसी बात को प्रसारित करने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

भारत में अँग्रेजों के समय से जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन हुआ था वही प्रणाली स्वाधीनता के पश्चात् भी अविकल रूप से प्रचलित है। अनेक विद्वानों ने इस शिक्षा-प्रणाली के दोषों को देखकर इसकी कड़ी भर्त्सना की है। कोई इस शिक्षा-प्रणाली को 'लिपिक बनाने के कारखाने' के रूप में देखता है तो दूसरा इसे 'स्वामिभक्त गुलाम बनाने का कारखाना' कहता है। इन सब कमजोरियों के होते हुए भी हमारे देश में इस-शिक्षा-प्रणाली में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है, जबकि हमें स्वाधीनता प्राप्त किए एक अरसा गुजर गया है। थोड़ा-बहुत परिवर्तन इसमें अवश्य हुआ है, किन्तु इसका मूल स्वरूप पहले जैसा ही है।

स्वामीजी के शिक्षा-विषयक विचार जितने स्पष्ट हैं उतने ही उपयोगी भी। हम जिस क्षण से उनके निर्देशों के अनुरूप अपनी शिक्षा-प्रणाली को निर्मित करेंगे उसी क्षण से भारत की उन्नति का द्वार खुल जाएगा। स्वामीजी का कथन है कि "मस्तिष्क में अनेक प्रकार की जानकारियों को ठूँसना ही शिक्षा नहीं है। यदि मस्तिष्क में अनेक प्रकार की अव्यवस्थित जानकारियाँ भरी रहें तो वह जीवन भर कष्ट देता रहेगा। आज हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारे आने वाले जीवन को व्यवस्थित

करे, जो हमें पुरुषार्थ प्रदान करे और जो हमारी शुभ प्रवृत्तियों को सबल बनाए। जो तत्त्व हमें सिखाए जाते हैं उन्हें हम पूरी तरह से पचाकर आत्मसात् कर लें।" शिक्षा के द्वारा राष्ट्र-मन का गठन होता है—राष्ट्र के मेरु-दण्ड का निर्माण होता है। शिक्षा पर आगामी पीढ़ी का भविष्य निर्भर रहता है। जिस देश में शिक्षा की उपेक्षा होती है उसके भविष्य को अंधकारमय ही कहा जा सकता है।

विवेकानन्दजी के विपुल साहित्य-कोश में सभी प्रकार के विचार-कण हैं। वह एक महान् भाण्डार है। आज किसी भी कार्य की योजना बनाने के लिए पहले समितियों-उपसमितियों का निर्माण करना पड़ता है। फिर विदेशों के अनुकरण पर एक लम्बी योजना बनती है। इस प्रकार का निरर्थक परिश्रम करने के स्थान पर यदि हम स्वामी-जी की कल्पनाओं को ही व्यवहार में अनुदित करने का प्रयास करें तो उससे राष्ट्र का महान् कल्याण सध सकता है।

उस महान् द्रष्टा ने ऐसे समय में विदेशों पर सांस्कृतिक चढ़ाई की थी और वहाँ के लोगों के मन को जीता था, जब भारत दीन-हीन दशा में था और शारीरिक तथा मानसिक रूप से गुलामी की दलदल में पूरी तरह से डूबा हुआ था। हिन्दू को देखकर इँगलैण्ड और अमेरिका के सभ्यगण उस समय शेर के समान गरजने लगते थे और

हिन्दू भी उन्हें शेर समझकर काँपने लगते थे। वे ही पश्चिमवासी स्वामीजी के चरणों में मेमने के समान दीन होकर बैठ गए। वहीं स्वामीजी के अनेक शिष्य बने और सारा पश्चिमी गोलार्ध उनकी जय जयकार से गूँज उठा।

किन्तु स्वामीजी को अपने यशोगान का तनिक भी मोह नहीं था इसीलिए वे स्वदेश लौटे और शांतिपूर्वक रचनात्मक कार्यों में लग गए। इसके पहले ही उन्होंने सम्पूर्ण भारत में पैदल भ्रमण किया था जहाँ उन्हें भारतीय जीवन के समस्त पक्षों का अध्ययन करने और साक्षात् निरीक्षण करने का अवसर मिला था। उन्होंने पश्चिमी देशों की बहुमुखी प्रगति का भी अवलोकन किया था। स्वामीजी अन्य लोगों के समान उसकी जगमगाहट को देखकर विस्फारित-नयन नहीं बने और न उस समाज के अंध भक्त ही हुए। उन्होंने पश्चिमी देशों की प्रगति के कारणों को एक तत्त्वान्वेषी की दृष्टि से देखा और भारत में आकर अपने कर्मयोग की प्ररोचना की।

स्वामीजी की योजना इन सभी कारणों से परिपूर्ण है। वह तत्त्व की दृष्टि से और प्रयोग की दृष्टि से—दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट है।

स्वामीजी ने इसी समय रूस के भविष्य को, अफीम की पीनक में चूर चीन के भावी उत्कर्ष को, अंग्रेजों के द्वारा भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने को तथा महान्

संहारक अस्त्रों के निर्माण और आगामी युद्ध को एक द्रष्टा के समान जान लिया था।

इस महान् द्रष्टा के द्वारा निर्मित योजना को यदि हमने अपनाया तो हम बहुत ही थोड़े समय में अपनी उन्ननि कर सकेंगे।

—'जीवन-विकास' से साभार।

(रूपान्तरकार—श्री शरद्चन्द्र पेंढारकर।)

—x—

सद्बचनों की भूमि में, हरि-नाम का बीज बोइये; उसे सत्य-जल से सदा सींचिये तो विश्वास का जन्म अवश्य होगा और एक मूर्ख भी इस प्रकार स्वर्ग और नर्क का अन्तर समझ सकेगा।

— गुरू नानक

ईश्वर की आराधना इस प्रकार करो मानों तुम उसे देख रहे हो, या फिर इस प्रकार कि मानों वह तुम्हें देख रहा है।

— पैगम्बर मोहम्मद

विश्वासपूर्वक प्रार्थना करने पर, तुम्हें वे सब वस्तुएँ प्राप्त होंगी, जो तुम चाहोगे।

—प्रभु ईसा

मोक्ष

रायसाहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर।

अधिकांश दर्शनों अथवा धर्मों का यही ध्येय होता है कि प्राणियों को आध्यात्मिक, आधिभौतिक या आधिदैविक दुःखों से किस प्रकार छुटकारा मिले; और उस ध्येय की उपलब्धि ही का नाम मोक्ष है। वेदान्त के अनुसार जीवात्मा तो सुख-दुख के विकार से परे होते हुए भी आनन्द स्वरूप है। उसका यह आनन्द जो माया या अविद्या से ढक जाता है, उसके फिर पूर्ण रूप से बोध होने को ही मोक्ष कहते हैं। प्रत्येक धर्म में मोक्ष-प्राप्ति के विभिन्न उपाय बतलाए गये हैं, क्योंकि आत्मा के विषय में ही उनके दृष्टिकोण पृथक् पृथक् हैं। देखिये, न्यायदर्शन के अनुसार, आत्मा में नौ विरोधी गुण होते हैं, जैसे बुद्धि, सुख, दुख, राग, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार। इन गुणों के उच्छेद होने पर दुःख की निवृत्ति हो जाती हैं। दुःख अधर्म के कारण होता है। इसलिये उनके न करने से आत्मा के विशेष गुणों का अभाव हो जाता है और वह मुक्त दशा को पहुँच जाता है। परन्तु इस दर्शन के अनुसार मुक्ति में सुख का भी अभाव रहता है, क्योंकि सुख के साथ राग रहता है और राग से बन्धन होता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष तत्त्वज्ञान से मिलता

है और इस ज्ञान की उपलब्धि के लिये निवृत्तिरूप धर्म और निष्काम कर्म करना चाहिये। धर्म दो प्रकार के होते हैं, सामान्य और विशेष। सामान्य के अन्तर्गत है, अहिंसा, सत्य बोलना, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अक्रोध, विशिष्ट देवता की भक्ति इत्यादि और विशेष धर्म का अर्थ है, चारों वर्ण और चारों आश्रमों के नियमों का पालन करना।

सांख्य दर्शन के अनुसार सुख और दुःख सापेक्षिक शब्द हैं, और दुःख न रहने पर सुख की सत्ता भी नहीं रहती। सांख्य का पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, लेकिन अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग जुड़ जाता है, और इसी संयोग के कारण प्रकृति-जन्य दुःखों का पुरुष पर असर पड़ता है। असल में बन्ध और मोक्ष प्रकृति के धर्म हैं न कि पुरुष के। ज्योंही प्रकृति अपना सम्बन्ध पुरुष से अलग कर लेती है, पुरुष अपनी स्वतंत्र दशा को प्राप्त हो जाता है। सांख्य के अनुसार पुरुष इस जीवन में ही मुक्ति पा सकता है, तब वह जीवनमुक्त कहलाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों से फिर भी उसको छुटकारा नहीं मिलता। शरीर के न रहने पर जब दुःखत्रय का विनाश हो जाता है, तब उस अवस्था का नाम विदेह-मुक्ति होता है।

योग दर्शन में दुःख की पाँच अवस्थाएँ बतलाई गई हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय। अविद्या को हटाने के लिये मन में निश्चिन्तता होनी चाहिये और चित्त की वृत्तियों को

रोकने का उपाय है वैराग्य। जब पुरुष को विषयों के भोग से वितृष्णा हो जाती है, तब उसे भोगमय जगत् में नहीं आना पड़ता। जब विवेक उत्पन्न होने पर गुणों से भी तृष्णा हट जाती है तो पुरुष गुणों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। विवेक की सिद्धि के लिए आठ प्रकार की साधनाएँ अर्थात् यम, नियम, असन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि लाभप्रद होती हैं। क्रियायोग से पाँचों प्रकार के क्लेश क्षीण हो जाते हैं और समाधि-योग से पुरुषार्थ शून्य होने पर गुणों का भी लय हो जाता है और उस अवस्था को 'कैवल्य' कहते हैं।

मीमांसा दर्शन आत्मा को कर्ता और भोक्ता दोनों मानता है। आत्मा अनेक और प्रति शरीर में भिन्न है— आत्मा इन्द्रियों की सहायता से जगत् के विषयों का अनुभव करता है और जब तक उसका शरीर, इन्द्रिय और पदार्थों से सम्बन्ध रहता है, वह पुनरागमन के बन्धन से नहीं छूट सकता; इसलिए इस दर्शन के अनुसार, जगत् के साथ आत्मा का सम्बन्ध टूट जाने का नाम ही मोक्ष है। वेदान्त के मत में, ज्ञान होने से जगत् की सत्ता ही नहीं रहती। लेकिन मीमांसा के अनुसार, संसार का विलय तो कभी नहीं होता, परन्तु फल की कामना न रखते हुए नित्य नैमित्तिक कर्म करते रहने से मोक्ष मिल जाता है।

अद्वैत दर्शन कहता है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है और इसलिए वह भी सत्-चित्-आनन्द है। परन्तु अध्यास के कारण अपने असली स्वरूप को भूलकर जगत्-

प्रपंच में फँस जाता है। इस अध्यारोप की निवृत्ति कर्म द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा तो अविकारी है। इसमें संदेह नहीं कि अंतःकरण की शुद्धि के लिए अच्छे कर्म लाभदायक होते हैं; परन्तु मुक्ति का साधन असल में ज्ञान ही है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु का पहिले यह समझना चाहिये कि ब्रह्म ही सत्य है और संसार अनित्य है; फिर उसमें सांसारिक भोगों से वैराग्य उत्पन्न होना चाहिये और इन्द्रियों को वश में करके, मन की वृत्तियों को रोककर, दुःखों को समभाव से भोगने की सहनशीलता प्राप्त कर, एकाग्रचित्त से गुरु की शिक्षा के अनुसार आत्मतत्त्व को पहचानना चाहिये। यह पहचान वेदों के चार महान् वाक्यों के मनन द्वारा कराई जाती है। ये वाक्य हैं—'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'अयमात्मा ब्रह्म'—इस मनन से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है और उसी का नाम मोक्ष है।

वैष्णव मत के अनुसार, जीव सृष्टिकाल में भगवान का अंश होते हुए भी, पूर्व कर्मों के कारण जगत् में फँस जाता है और भवचक्र में घूमा करता है। इस दुःखमयी दशा को देखकर भगवान् की उस पर दया होती है और उसकी करुणा के कारण जीव के कर्मों के फल अंकुरित नहीं होते और उसे मोक्ष मिल जाता है।

योगवासिष्ठ में बतलाया है (३।१००।४२,३७) कि जीव बन्धन के परे है, वह किसी प्रकार बद्ध नहीं हो सकता, लेकिन जो अपने को कुकल्पना से बन्धन में समझता है,

उसके लिए वास्तव में न बन्धन है और न मुक्ति। (६।१२८। ४६)। जब जीव इस प्रकार ध्यान करता है कि वह सब इन्द्रियों, मन और बुद्धि से भी जो परे है, वह तत्त्व है, तब मुक्त हो जाता है। (६।२०।१७) मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुई अज्ञान की झूठी गाँठ, जो अहंभाव के रूप में अनुभूत हो रही है, जब खुल जाती है तब मोक्ष का अनुभव होता है। योगवासिष्ठ सदेह और विदेह दोनों प्रकारों के मोक्ष को मानता है और उसका सिद्धांत है कि ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

गीतादर्शन में उसके समय तक के विभिन्न मतों का भली प्रकार समन्वय किया है। गीता ने शरीर को क्षेत्र मानते हुए आत्मा को क्षेत्रज्ञ की संज्ञा दी है—जीव अजन्मा, नित्य होते हुए भी भगवान् का अंश है; वह अनेक न होते हुए एक ही है। उसमें बतलाया है कि निष्काम कर्म करते हुए नियमपूर्वक ध्यानयोग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। दुःखों के बीच उद्वेग रहित रहता है, तथा सुखों की प्राप्ति के होने पर वह स्पृहा नहीं रखता। सर्वत्र आत्मस्वरूप देखने के कारण राग, भय तथा क्रोध के भावों से वह सर्वदा उन्मुक्त रहता है—ऐसे पुरुष की संज्ञा है 'स्थितप्रज्ञ'—उसी को औपनिषद के शब्दों में जीवन्मुक्त कहते हैं।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के एकादश अध्याय में 'बद्ध' और 'मुक्त' के लक्षण इस प्रकार बतलाए हैं:—

"श्रीभगवान् ने कहा—हे उद्धव! मेरे उपाधिरूप सत्त्वादि गुणों के कारण आत्मा के बन्धन और मोक्ष की व्याख्या होती है। वास्तव में आत्मा रूप मैं मायामूलक बन्धन और मोक्ष दोनों से अतीत हूँ। शोक, मोह, सुख, दुःख और देह की उत्पत्ति आदि सब कार्य माया के हैं—निश्चय जानो कि देहधारियों के बन्धन और मोक्ष की कारणरूपा विद्या और अविद्या, ये दोनों मेरी माया से रचित मेरी ही आद्य शक्तियाँ है। मेरे अंशरूप एक ही जीव को अविद्या से अनादि बन्धन और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है। स्वप्नावस्था से उत्थित व्यक्ति के समान विवेकी आत्मा देहस्थ होने पर भी देहस्थ नहीं है, क्योंकि वह देहजनित सुखदुःखादि से अतीत है; और दूसरा अविवेकी स्वप्न देखनेवाले व्यक्ति के समान वास्तव में देहस्थ न होकर भी देहस्थ है; क्योंकि देहाभिमानी होकर देह जनित सुख-दुःख को भोगता है। जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सब आचरण संकल्पशून्य होते हैं वह पूर्व संस्कारवश शरीर में स्थित होकर देह के धर्मों से मुक्त हैं।

ऊपर के विवेचन से मालूम होगा कि कर्मों के फल भोगने के लिये जीव को जन्म लेना आवश्यक होता है। तो इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि कर्मों का रोकना संभव न हो, तो उनके फल किस प्रकार नष्ट किये जा सकते हैं? इसका उत्तर योगवासिष्ठ में यों दिया गया है कि "आत्मा के अज्ञान से ही कर्म के कारणरूप संकल्प का उदय होता है, इसलिये संकल्प का त्याग करो।"

लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य के कर्मविपाक-प्रकरण में भी समझाया है कि कर्म अनादि है और उसके अखंड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता। सब कर्मों का छोड़ देना भी संभव नहीं है और मीमांसकों के कथनानुसार कुछ कर्मों के करने से और कुछ कर्मों के छोड़ देने से, कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता। वेद और स्मृति ग्रन्थों में यज्ञ, याग और पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है; परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के हैं—मोक्षप्राप्ति का 'ज्ञान' ही एक सच्चा मार्ग है। इसमें प्रश्न यह उठता है कि क्या इस मार्ग से सफलता पाने के लिये आवश्यक ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न जो करना पड़ता है, वह मनुष्य के वश में है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा यद्यपि मूल में अकर्ता है, तथापि बन्धनों के निमित्त से वह इतने ही के लिये दिखाऊ प्रेरक बन जाता है और जब यह आगन्तुक प्रेरकता उसमें किसी भी निमित्त से एक बार आ जाती है, तब भी वह कर्म के नियमों से भिन्न अर्थात् स्वतंत्र ही रहता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करने के लिये जीवात्मा मूल में स्वतंत्र है, अर्थात् मनुष्य जो जड़ कर्मों में भलाई-बुराई का बीज अपनी ममत्व-बुद्धि से उत्पन्न किया करता है, उसका नाश करना मनुष्य के हाथ में है। कर्मों का दग्ध हो जाना मन की निर्विषयता पर और ब्रह्मात्मैक्य के अनुभव पर ही सर्वथा अवलंबित रहता है।

ऊपर बतलाया हुआ सिद्धान्त अद्वैतवादियों के अनुसार है। द्वैतवादी भी जो कर्म-फल के नियम को मानते हैं और जिनका कहना है कि या तो कर्मों में स्वतः 'अपूर्व' द्वारा फल पैदा करने की शक्ति रहती है अथवा जो यह समझते हैं कि बिना किसी चेतन पुरुष, जैसे ईश्वर की धिष्ठातृता के, कर्म स्वयं कार्य करने में असमर्थ हैं, उन दोनों के विचारों में कर्म के फलों के बन्धन से निवृत्ति पाने का एक ही उपाय है और वह यह है कि ईश्वर को फलों का समर्पण करता जाय !

कुछ विदेशी धर्मावलम्बियों का हिन्दूधर्म के कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध जो कटाक्ष है, वह यह है कि मनुष्य अपने कर्तव्यों में कभी भी निष्कलंक नहीं हो सकता। इसलिये यदि उसके अपराधों की क्षमा उसे ईश्वर न दे सके, तो फिर उसकी भक्ति करना ही निष्फल है। वे गौरव के साथ कहते हैं कि उनके यहाँ कितना भी पापी क्यों न हो, ज्योंही वह प्रभु ईसामसीह अथवा हज-रत मुहम्मद में 'ईमान' लाता है, उसका तत्काल मोक्ष हो जाता है। अद्वैत-मत के अनुसार ईश्वर की 'दया' का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि जब ईश्वर और जीव में कोई भेद ही नहीं, तो 'दया' कौन किस पर करे ? हाँ, वैष्णव तंत्र में जहाँ नारायण और जीव में भेद है, "जीव के क्लेशों को देख कर भगवान् के हृदय में 'कृपा' का आविर्भाव होता है, और वह जीवों पर अपनी नैस-र्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं, जिसके कारण जीव के

शुभ और अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के लिये व्यापारहीन हो जाते हैं। जीव इस दशा में वैराग्य और विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः-प्रवृत्त हो जाता है।" (भारतीय दर्शन से) सारांश यह कि प्रत्येक दृष्टिकोण से विवेक अथवा ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

जब तक लाखों लोग भूखे और अज्ञानी हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को कृतघ्न समझता हूँ जो उनके बल पर शिक्षित बना और अब उनकी ओर ध्यान तक नहीं देता।

—स्वामी विवेकानन्द

यह ठीक है कि ब्राह्मण के घर जन्म लेने से सभी ब्राह्मण होते हैं; किन्तु उनमें कोई बड़े पंडित होते हैं, कोई पुजारी होते हैं, कोई रसोई बनाते हैं, और कोई वेश्याओं के दरवाजों पर भटकते फिरते हैं।

श्री रामकृष्ण

श्रीरामकृष्णदेव और गोपाल की माँ

प्राध्यापक नरेन्द्रदेव वर्मा

श्रीभगवान् जब मानव रूप में अवतीर्ण होते हैं तब उनके पार्षद भी उनके साथ जन्म ग्रहण करते हैं। वे अपने जीवन-काल में इन सहचरों के माध्यम से आदर्श मानव-लीला का विधान करते हैं और संसार को एक नया आलोक देकर चले जाते हैं। विश्व-धर्म के इतिहास में जितने भी अवतार-पुरुषों की जीवनियाँ उपलब्ध हैं उनके अनुशीलन के बल पर यह कहा जा सकता है कि इन महत् पुरुषों के प्रत्येक पार्षद के जीवन और कार्य की एक विशिष्ट महत्ता और उपयोगिता होती है। प्रत्येक सहचर अपने जीवन और कृतित्व के द्वारा श्रीभगवान् के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है। असल में, ये श्रीभगवान् के एक-एक भाव के चरम उत्कर्ष के प्रतीक होते हैं तथा इन्हीं के माध्यम से अपार भावसम्पन्न परमेश्वर की महानता को समझा जा सकता है। ये पार्षद मानवजीवन के समस्त सम्भावित सम्बन्धों के आदर्शतम रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं और श्री भगवान् भी इन्हीं सहचरों के साथ अपनी अपूर्व मानवी-लीला का विधान करते हैं।

वे एक ओर आदर्श बन्धु के रूप में क्रीड़ा करते हैं तो दूसरी ओर उनका अशरण-शरण रूप भी प्रकाशित होता

है। इसी प्रकार, जहाँ वे अनन्त शक्तिसम्पन्न लोकनायक की भूमिका पर आरूढ़ होते हैं, वहाँ उनकी महाशक्ति के आलम्बन से उनका लोकरंजनकारी रूप भी हर्ष और माधुर्य की सृष्टि करता है। एक ओर तो वे महत् शक्ति-सम्पन्न महामानव हैं और दूसरी ओर उनका शिशुवत् आचरण मातृ-भाव की पुण्यसलिला में जन-मन को पुनीत बना देता है। हम भगवान् श्रीराम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की कल्पना माता कौशल्या के बिना भला कैसे कर सकते हैं? श्रीकृष्ण का लोकरंजनकारी रूप देवकी के वात्सल्य - आवेग के बिना पूरी तरह से कैसे समझा जा सकता है? किन्तु यह भी सत्य है कि वे मातृ - भाव की इस प्रवर्धना को केवल अपनी जन्मदायिनी माता तक ही सीमित नहीं रखते अपितु वे अपनी इस दिव्य भावना का विकास उन सभी लोगों में करते हैं जिन्होंने इसकी कामना की है।

मातृ - भाव मानव - जीवन का सर्वथा पवित्र भाव है तथा प्रत्येक अवतार ने अपने-अपने पार्षदों के माध्यम से इस भाव को सम्वर्धित किया है। श्रीराम केवल कौशिल्या के प्यारे नहीं हैं, अपितु वे कैकेयी और सुमित्रा के भी राजदुलारे हैं, शबरी की सूनी कुटिया में अपने स्नेह का आलोक भर देनेवाले तारे भी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मात्र देवकीनन्दन ही नहीं हैं, वे यशोदानन्दन भी हैं। उनकी बालसुलभ क्रीड़ा-चपलता से केवल कारागर ही धन्य नहीं-हुआ है, वे अपनी स्वर्गिक किलकारियों से ब्रज की वीथियों को भर देनेवाले नन्दनन्दन भी हैं। श्रीरामकृष्ण-

देव ने अपनी जन्मदायिनी माता चन्द्रामणि देवी के हृदय में ही वात्सल्य-प्रेम की धारा नहीं बहाई थी अपितु उनके आलम्बन से कामारपुकुर ग्राम को अन्य महिलाओं में भी मातृत्व के दिव्य-भाव का संचरण हुआ था। दक्षिणेश्वर में द्वादशवर्षीय कठोर साधना के उपरान्त जब बालक गदाधर मुक्तकाम श्रीरामकृष्ण परमहंस बन जाते हैं और अपने अंतरंग भक्तों के साथ नाना प्रकार की स्वर्गिक लीलाएँ करते हैं तब एक बार फिर से उनका शिशु-भाव गोपाल की माँ को कृतार्थ करनेके लिए जागृत हो उठता है।

श्रीभगवान् अपार भावमय होते हैं तथा वे अपने भक्तों को उन्हीं रूपों में मिलते हैं जिनकी वे भक्त कामना किया करते हैं। महासाध्वी अनुसूया के वात्सल्य-प्रेम से द्रवित होकर त्रैलोक्य स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश अबोध शिशु के रूप में क्रीड़ा करने लगते हैं। विदुर-पत्नी के अपार स्नेह के वशीभूत हो भगवान् श्रीकृष्ण केले के छिलकों को ही खाकर उन्हें धन्य करते हैं। और, भक्तिमती शबरी के जूठे बेरों को ग्रहण कर श्रीराम उन्हें जन्मदायिनी माता का गौरव प्रदान करते हैं। भगवान् श्रीरामकृष्णदेव यज्ञोपवीत ग्रहण करने के पश्चात् दरिद्र विपन्ना धनी लोहारिन के हाथों से सर्वप्रथम भिक्षा ग्रहण करते हैं और उन्हें भिक्षा देने वाली माता के गौरव से अभिषिक्त करते हैं। श्रीरामकृष्णदेव को उनके भक्तों ने अनेक रूपों में देखा था। यदि वे कामिनी-कांचन से विरक्त एक महान् संन्यासी के रूप में उनके सामने आते हैं तो वे एक अनन्य

सखा के रूप में उनसे हार्दिक स्नेह भी करते हैं, जहाँ वे जगद्गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित होकर उन्हें वैराग्य और ज्ञान की शिक्षा देते हैं, वहाँ एक स्नेहमयी माता के रूप में उनसे प्रेम भी करते हैं। किन्तु भक्तों ने श्रीरामकृष्णदेव के बालगोपाल रूप का दर्शन नहीं किया था। अतः श्रीभगवान् इसी रूप को प्रकाशित करने के लिए गोपाल की माँ को दक्षिणेश्वर की ओर आकर्षित करते हैं। जहाँ श्रीरामकृष्ण-देव ने गोपाल की माँ के आश्रय से विविध बाल-लीलाएँ की हैं, वहाँ दूसरी ओर उनकी अहैतुकी कृपा से गोपाल की माँ का जीवन दैवी आह्लाद एवं वात्सल्य-प्रेम की धारा से भर गया है।

गोपाल की माँ का पूर्वनाम अघोरमणि देवी था। अघोरमणि देवी गोपाल की माँ कैसे बनीं इसकी एक सुदीर्घ कथा है। अघोरमणि देवी बालविधवा थीं तथा बचपन से ही अपने भाई श्री नीलमाधव बन्द्योपाध्याय के साथ रहा करती थीं। दक्षिणेश्वर से दो-तीन मील की दूरी पर पुण्यतोया गंगा के किनारे कामारहाटी नामक गाँव बसा हुआ है। यहाँ पटलडाँगा के गोविन्द्रचन्द्र दत्त का एक विशाल भवन तथा उपवन है। गोविन्द्रचन्द्र दत्त धार्मिक रुचि के निष्ठावान् गृहस्थ थे और प्रभु-कृपा से उन्होंने एक बड़ी सम्पत्ति अर्जित की थी। उन्होंने कामारहाटी में श्रीराधाकृष्ण के विग्रह की स्थापना की थी। श्री नीलमाधव बन्द्योपाध्याय इन्हीं के कुल-पुरोहित थे तथा वे नियमित रूप से देव विग्रह की सेवा-पूजा किया करते थे।

बाल्यावस्था से ही विधवा हो जाने के कारण अघोरमणि देवी को संसार का ज्ञान नहीं हो पाया था। वे अपने भाई के साथ ही रहा करती थीं तथा देव-पूजा के कार्य में सहायता पहुँचाया करती थीं। उनका जीवन बड़ा आचार-प्रवण था और वे विधवाओं के आचार का बड़ी कट्टरता से पालन किया करती थीं। श्रीभगवान् के चरणों में अघोरमणि का प्रारम्भ से ही बड़ा अनुराग था तथा उनका सारा अवकाश का समय भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप का चिंतन करने में व्यतीत होता था। यद्यपि अघोरमणि देवी के पितृ-कुल में शक्ति की उपासना होती थी, किन्तु अघोरमणि की श्रीकृष्ण पर अगाध भक्ति थी तथा उन्होंने एक वैष्णव गुरु से श्रीकृष्ण-मंत्र की यथावत् दीक्षा भी ली थी।

श्री गोविन्दचन्द्र दत्त के देहावसान के उपरान्त उनकी विधवा पत्नी कामिनी देवी ही सम्पत्ति की देखभाल करने लगीं। उनके कोई पुत्र नहीं था, केवल भूतो (अज्ञेश्वरी) और नारायण (नारायणी) नाम की दो पुत्रियाँ थीं। कामिनी देवी भी बड़ी आचारप्रवण थीं और उनका भी श्रीभगवान् के चरणों में तीव्र अनुराग था। पति के देहावसान के उपरान्त उन्होंने देवसेवा तथा अन्य धार्मिक कार्यों के सम्पादन में कोई व्यतिक्रम नहीं आने दिया था। यद्यपि वे भी यथाशक्ति जप-साधन किया करतीं, फिर भी उन्हें सम्पत्ति की देखभाल तथा पुत्रियों और दामादों का आदर-सत्कार भी करना पड़ता था। एक ही मनःस्थिति से युक्त होने के कारण अघोरमणि देवी और

कामिनी देवी में काफी अपनापा हो गया था। किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर भी था। कामिनी देवी को संसार का ध्यान भी रखना पड़ता था; उन्हें सामाजिक मर्यादा का भी पालन करना पड़ता था, किन्तु अघोरमणि देवी के साथ इसप्रकार की कोई बाधा नहीं थी। इसीलिए वे बालगोपाल के चिंतन में सर्वात्म-भाव से समर्पित हो सकी थीं।

अघोरमणिदेवी में जिसप्रकार अटूट आचार निष्ठा थी, उसीप्रकार स्वाभिमान का भाव भी था। विपन्न होते हुए भी उन्होंने किसी वस्तु के लिए किसी के सम्मुख हाथ नहीं फैलाया। यहाँ तक कि वे अपने भाई पर भी भार नहीं बनना चाहती थीं। उन्होंने अपने आभूषणों को बेचकर साढ़े सात सौ रुपया कामिनीदेवी के पास जमा कर दिया था। उन रुपयों का जो कुछ ब्याज आता था उसीसे वे अपना निर्वाह किया करती थीं। जब उनकी कामिनीदेवी के साथ आत्मीयता बढ़ी तो उन्होंने देव-सेवा का भार स्वयं ग्रहण कर लिया और कामिनी देवी की अनुमति से देव-सेवा की सुविधा के लिए उन्हीं के महल के एक कमरे में रहने लगीं।

अघोरमणि देवी को रहने के लिए जो कमरा दिया गया था उसी के समीप से कलकलनिनादिनी पुण्यसलिला-गंगा प्रवाहित होती थीं। इसी कमरे में अघोरमणि देवी ने अपने जीवन के तीस वर्ष ईश्वर की साधना और जप-तप में बिताए थे। उनके कमरे की खिड़कियाँ गंगाजी की ओर

खुला करती थीं। फलतः निरन्तर श्री गंगा-दर्शन करते रहने से और उनके वक्ष-प्रदेश से बहनेवाली पवित्र वायु से वहाँ का वातावरण सदैव ईश्वर के उद्दीपन-भाव से परिपूर्ण रहता था। अघोरमणि देवी की जीवनचर्या पर्याप्त कठोर थी। बंगाल में विधवाओं के लिए आचार सम्बन्धी अनेक कठोर नियमों का विधान किया गया है। अघोरमणि देवी इन समस्त नियमों का पालन करती हुई ईश्वर-चिन्तन में लीन रहा करती थीं। उनकी इस कठोर तपस्या से ही द्रवित होकर श्रीभगवान् ने श्रीरामकृष्णदेव के रूप में उनके जीवन को आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं उपलब्धियों से भर दिया था।

कामारहाटी में अघोरमणि देवी के जीवन के तीस सुदीर्घ वर्ष कठोर तपस्या में व्यतीत हो चुके थे। इस समय तक श्रीरामकृष्णदेव की आध्यात्मिक साधनाओं एवं उपलब्धियों की सूचना सद्यः विकसित सुमन की सुरभि के समान दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव का कमरा भक्त-समागम के अनुपम तीर्थ-स्थल के रूप में पर्यवसित हो गया था जहाँ दूर-दूर से जिज्ञासु भक्त एवं साधक आने लगे थे और श्रीराम-कृष्णदेव के साहचर्य में भगवच्चर्चा करते हुए अपने जीवन को कृतकृत्य कर रहे थे। कामारहाटी की इस विधवा ब्राह्मणी ने भी श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में बड़ी प्रशंसा सुनी थी। इसलिए उनकी श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन की

बड़ी इच्छा हुई और एक दिन सुयोग मिलने पर वे कामिनी देवी के साथ नाव पर दक्षिणेश्वर पहुँच गईं।

जिस समय अघोरमणि देवी को श्रीरामकृष्णदेव का प्रथम दर्शन प्राप्त हुआ था उस समय हेमन्त ऋतु का पदार्पण हो चुका था। गंगा का जल निर्मल हो चला था और शीत भी कुछ-कुछ पड़ने लगी थी। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें देखते ही उनका बड़ा आदर-सत्कार किया था और उनके साथ धर्म-चर्चा की थी। तदनन्तर उन्होंने उन लोगों को कुछ भजन भी गाकर सुनाया था। जब वे श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने के उपरान्त वापस लौटने लगीं तब श्रीरामकृष्णदेव ने अघोरमणि देवी को पुनः आने के लिए कहा था। वास्तव में श्रीरामकृष्णदेव उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए थे और उनकी प्रशंसा करते हुए कहा था, "अहा! उनके मुख पर कैसा दिव्य भाव है, मानों वे भक्ति-प्रेम में तैर रही हैं। उनकी आँखों में तो प्रेम ही प्रेम भरा हुआ है। उनकी नाक से लेकर तिलक तक सब-कुछ कितने सुंदर हैं!" अघोरमणिदेवी की अवस्था काफी बीत चुकी थी, किन्तु उनकी ओर देखकर उनके वय का अनुमान करना सहज नहीं था। उनके मुख पर सदा एक शिशु की-सी सहजता खेलती रहती थी। इसीलिए तो श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें भक्ति और प्रेम से परिपूर्ण बताया था।

श्रीरामकृष्णदेव के प्रथम दर्शन के उपरान्त उनके सम्बन्ध में यद्यपि अघोरमणिदेवी कोई ऊँची धारणा नहीं

बना सकी थीं, किन्तु उन्होंने यह अनुभव किया था कि श्रीरामकृष्णदेव बहुत अच्छे व्यक्ति हैं तथा उनसे पुनः मिलने की इच्छा लेकर वे वापस कामारहाटी लौटी थीं। कुछ दिन के बाद वे पुनः श्रीरामकृष्ण के दर्शन के निमित्त तीन-चार पैसे का संदेश खरीद कर अकेले ही दक्षिणेश्वर पहुँची थीं। इस समय कामिनी देवी उनके साथ नहीं थीं। इसका कारण यह था कि कामिनी देवी को अपनी सम्पत्ति की देख भाल भी करनी पड़ती थी तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखना पड़ता था, किन्तु अघोर-मणिदेवी इन सभी विचारों से ऊपर उठकर सर्वात्म - भाव से बालगोपाल के पादाम्बुजों में समर्पित हो चुकी थीं। यद्यपि कामिनी देवी का जीवन भी जप-तप से परिपूर्ण था किन्तु अघोरमणि देवी की बात ही निराली थी। इस युग में किसी विरली महिला के ही जीवन में इतनी आचार-परायणता एवं वात्सल्य - भाव पूर्ण - भक्ति के दर्शन हो सकते हैं। अघोरमणिदेवी रात्रि को थोड़ासा विश्राम करने के उपरान्त दो बजे रात को शय्या त्याग देती थीं और सबेरे आठ-नौ बजे तक इष्टदेव का चिंतन तथा जप-ध्यान किया करती थीं। तदुपरान्त स्नानादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर वे श्रीराधाकृष्ण जी का दर्शन करतीं और फिर रसोई बनाकर उन्हें भोग लगाने के पश्चात् ही वे भोजन किया करतीं। फिर थोड़ासा विश्राम करने के उपरान्त वे पुनः जप-तप करने बैठ जातीं और सन्ध्या होने पर उठा करतीं। तो भी उनकी तपस्या का कठिन क्रम

समाप्त नहीं होता था। श्रीराधाकृष्ण की संध्याआरती के पश्चात् उनका जप फिर बड़ी रात तक चला करता था। बँगला में कहावत है कि आचारपरायण विधवाएँ नमक तक को खाने के पहले धो लिया करती हैं। अघोरमणि देवी के जीवन में हमें इस आचारनिष्ठा की पराकाष्ठा का दर्शन होता है। वे पृथ्वी पर सोना, दिन में तीन बार स्नान करना, एक बार भोजन करना, व्रत, नियम एवं उपवास का अनुष्ठान करना तथा श्रीभगवान् के जप-चिन्तन में स्वयं को लीन करदेना इत्यादि विधवाओं के आचारमूलक नियमों का बड़ी कड़ाई से पालन किया करती थीं।

जब अघोरमणि देवी दूसरी बार दक्षिणेश्वर पहुँची तब श्रीरामकृष्णदेव उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने पूछा, "तुम मुझे देखने आई हो? भला मेरे लिए क्या लाई हो?" श्रीरामकृष्णदेव के इस प्रश्न से अघोरमणि देवी पर्याप्त विस्मित हुईं और अपने मन में सोचने लगीं, "मैं इन्हें भला क्या खिला सकती हूँ? अन्य लोग तो इन्हें अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खिलाया करते हैं। "किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के बार-बार अनुरोध करने से अघोरमणि देवी ने उन्हें संदेश दे दिया और दीनवत्सल प्रभु ने वह बड़े प्रेम से ग्रहण किया। फिर उन्होंने अघोरमणि देवी से कहा, "अरी, तुम पैसे खर्च करके यह सब क्यों लाती हो? घर पर ही नारियल के लड्डू बनाकर रख लिया करो और जब यहाँ आओ तो एक-दो लड्डू ले आया करो। न हो, तो तुम अपने लिए जो साग-तरकारी बनाया करती हो उसीमें से

थोड़ासा मेरे लिए ले आया करना। मुझे तुम्हारे हाथ का भोजन करने की बड़ी इच्छा होती है।" अघोरमणि देवी सोचने लगीं, "यह कैसा साधू है जो धर्मोपदेश देने के स्थान पर हमेशा खाने-पीने की बातें करता है। अबसे मैं यहाँ कभी नहीं आऊँगी।" किन्तु वे अपनी बात पर अडिग नहीं रह सकीं। जैसे ही वे श्रीरामकृष्णदेव के कमरे से कामारहाटी लौटने के लिए निकलीं, वैसे ही उनके मन में एक आकुलता भर गई और उनके चरण आप से आप श्रीरामकृष्णदेव की ओर बढ़ने लगे। अपने मन को शीघ्र दक्षिणेश्वर आने का प्रलोभन देकर ही वे उस दिन घर लौट सकी थीं। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन के बिना अधिक दिन तक कामारहाटी में रुकना उनके लिए सम्भव नहीं था। वे पुनः दो-तीन दिनों के बाद सूखा साग बनाकर श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन के निमित्त दक्षिणेश्वर में आ उपस्थित हुईं।

भक्तवत्सल श्रीरामकृष्णदेव उनसे तरह-तरह की चीजें बनाकर लाने का अनुरोध किया करते थे और अघोरमणि देवी उनके किसी अनुरोध को अस्वीकार नहीं कर सकती थीं। वे कभी-कभी ऐसा भी सोचा करती थीं कि "गोपाल! क्या मैंने तेरी इतने वर्षों तक इसीलिए सेवा की है कि तू अंत में मुझे एक ऐसे साधू के पास ले आएगा जो मुझसे हमेशा खाने के लिए माँगा करता है?" किन्तु श्रीराम-कृष्णदेव का स्नेहपाश इतना दृढ़ था कि अघोरमणि देवी उनसे दूर न रह सकीं और इस घटना के पश्चात् दो-तीन

महीनों तक वे निरन्तर दक्षिणेश्वर आती-जाती रहीं। श्री भगवान् ने अब उस दुःखिनी ब्राह्मणी पर कृपा करके उसे उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों से युक्त करना प्रारम्भ कर दिया।

धीरे-धीरे श्रीरामकृष्णदेव के पुण्य-दर्शन और बाल-गोपाल के जप-कीर्तन में हेमन्त ऋतु बीत चली और ऋतुराज का आगमन हुआ। प्रकृति सुन्दरी सौन्दर्य के समस्त प्रसाधनों से युक्त होने लगी और उसके अंगोपांग पुष्प-आभूषणों से सुशोभित हो गए। एक ऐसी ही निरभ्र वसंत रजनी में अघोरमणि देवी बाल - गोपाल के ध्यान में तन्मय थीं। उन्होंने अनुभव किया कि धीरे - धीरे उनका मन माया राज्य की सीमा से ऊपर उठता जा रहा है और उनकी बाह्य चेतना लुप्त होती जा रही है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि वे एक ऐसे अतीन्द्रिय लोक में विचरण कर रही हैं जहाँ मात्र सम्पूर्ति है—केवल आनन्द है। इसी ऊर्ध्व अवस्था में उन्होंने देखा कि उनके सम्मुख श्रीरामकृष्णदेव समासीन हैं। उनके अंग - प्रत्यंग से आलोक की अनवरत धारा प्रवाहित हो रही है और उनका समस्त ज्ञान चिदालोक से निर्मित है। वे इस अपूर्व दर्शन से अत्यन्त विस्मित हुईं और सोचने लगीं, "ये यहाँ कैसे आए? मैं इन्हें ऐसे भव्य रूप में कैसे देख रही हूँ?" ऐसा सोचते हुए त्योंही उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के बाएँ हाथ को पकड़ा ज्योंही वे अदृश्य हो गए और उनके भीतर से एक दस महीने का सचमुच का बालगोपाल उनके सामने

प्रकट हो गया। अघोरमणि देवी आह्लाद और आनन्द के सागर के अतल-तल में डूबती हुई देखने लगीं कि बाल-गोपाल घुटनों के बल चलता हुआ उनके समीप उपस्थित हो गया है और एक हाथ उनकी ओर बढ़ाकर उनके मुख की ओर देखते हुए कह रहा है—"माँ! मुझे माखन दो।" उस विधवा ब्राह्मणी के लिए यह बड़ा ही अपूर्व अनुभव था। वे हर्ष के आवेग को न सह सकीं और चिल्लाकर रो पड़ीं। रोते-रोते ही उन्होंने गोपाल से कहा, "अरे बेटा! मैं तो दीन-दुखिया हूँ। तेरे लिए मैं माखन-खीर कहाँ से लाऊँ?" किन्तु बालगोपाल माननेवाले नहीं थे। वे निरन्तर 'खाने को दो' 'खाने को दो' कहते रहे। निरुपाय होकर अघोरमणि देवी उठीं और छींके पर रखे हुए नारि-यल के लड्डुओं को निकालकर बाल गोपाल को खिलाते हुए कहने लगीं, "बेटा गोपाल! यही मेरे पास है। मैं तुझे बड़ी खराब चीज खिला रही हूँ। कहीं बदले में तू मुझे भी ऐसी ही चीज न दे देना।"

अघोरमणिदेवी गोपाल को खिलाकर फिर माला लेकर जप करने बैठीं, किन्तु अब भला क्या जप करना सम्भव था? गोपाल कभी तो उनकी गोद में जा बैठता और कभी उनकी पीठ पर चढ़ जाता। कभी ध्यानमग्न ब्राह्मणी की मुँदी आँखों में उँगलियाँ डालकर उन्हें खोलने का प्रयास करता और कभी उनकी माला को ही पकड़ लेता और उनके हाथ से छीनकर अपने गले में डाल लेता। रात कैसे बीती इसका ज्ञान कामारहाटी की ब्राह्मणी को नहीं हो

पाया। प्रातःकाल होते ही वे उन्मत्त के समान दक्षिणेश्वर की ओर पैदल ही चल पड़ीं। उन्हें इसका बोध ही नहीं रहा कि उनके वस्त्र कहाँ हैं? कैसे हैं? केश कैसे हैं? अतिन्द्रिय प्रेम के प्रवाह में उनकी सारी बाह्य चेतना लुप्त हो गई। रास्ते भर वे देखती रहीं—अनुभव करती रहीं कि उनके जन्म-जन्मान्तर का लाड़ला, उनके नयनों का प्रकाश, उनके जीवन का अनमोल धन बाल-गोपाल उनके कंधों पर बैठा हुआ है और उसके कमल के समान अरुण चरणद्वय उनके वक्ष-प्रदेश में झूल रहे हैं। ऐसी ही अवस्था में वे गोपाल-गोपाल की मर्मभेदी पुकार लगाती हुई श्रीरामकृष्णदेव के कमरे में प्रविष्ट हुईं।

उस समय एक महिला-भक्त श्रीरामकृष्णदेव के कमरे को झाड़-बुहार रही थीं। उन्होंने देखा कि अघोरमणि देवी के नयन लाल हैं, केश अस्तव्यस्त हैं, उनका आँचल धरती पर गिरा हुआ है और उन्हें देह-बोध नहीं है। उनकी स्थिति प्रमत्त के समान हो रही है और वे गोपाल-गोपाल का हृदयस्पर्शी उच्चारण कर रही हैं। श्रीरामकृष्ण-देव छोटे तखत पर बैठे हुए थे। अघोरमणि भावावेग में उनके समीप जाकर बैठ गईं और श्रीरामकृष्णदेव भी अघोरमणि को देखकर भावाविष्ट हो गए और उनकी गोद में जा बैठे। अब कामारहाटी की ब्राह्मणी अपने साथ जो खाद्य वस्तु लेती आई थी उसे दिव्य प्रेम की भावना से अभिभूत होकर खिलाने लगी और श्रीरामकृष्णदेव भी उसे उतने ही प्रेम से ग्रहण करने लगे।

इसके पूर्व श्रीरामकृष्णदेव ने किसी महिला का गात-स्पर्श नहीं किया था। कभी-कभी वे गोपाल-भाव से भैरवी ब्राह्मणी की गोद में बैठ जाया करते थे। भैरवी ब्राह्मणी श्रीरामकृष्णदेव की प्रथम महिला-गुरु थीं तथा उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को तंत्र-दीक्षा देकर तांत्रिक-साधना की ओर प्रवृत्त किया था। उन्हें कभी-कभी यशोदा-भाव का उद्दीपन हो जाया करता था और तब श्रीरामकृष्ण-देव भी उनके साथ बालगोपाल रूप से लीला किया करते थे। वे ही अपार दयामय भगवान् आज अघोरमणिदेवी को कृतार्थ करते हैं। इस महाभाव के आवेश में अघोर-मणि तरह-तरह की भंगिमा प्रदर्शित करते हुए नृत्य करने लगीं और कहने लगीं, "आज तो सब नाच रहे हैं। ब्रह्मा नाच रहे हैं, विष्णु नाच रहे हैं, शिव नाच रहे हैं।" अघोरमणि के लिए यह अपूर्व भावोद्रेक था और उतना ही अपूर्व था श्रीरामकृष्णदेवका वह मंगलमय स्पर्श,जिसने अघोरमणिदेवी को इस भाव को धारण करने में समर्थ बनाया था। इस अलौकिक भूमिका पर अघोरमणिदेवी ने श्रीरामकृष्णदेव से अनेक बातें की थीं। कभी तो वे कहतीं, "मेरा गोपाल अभी-अभी तुम्हारे शरीर में समा गया।" फिर कहतीं, "देखो, वह फिर तुम्हारी देह से निकल आया।" और उसे सम्बोधित करते हुए वे कहतीं, "आ बेटा! आ! अपनी दुखिया माँ के पास आ," और बाल-गोपाल को अपनी गोद में उठा लेती।" भगवान् श्रीराम-कृष्णदेव ने उनकी इस दशा को देखकर कहा था, "यह तो

आनन्द से भरकर मस्त हो गई है। यह तो सचमुच में गोपाल-लोक में पहुँच गई !"

अघोरमणिदेवी के इस अलौकिक भावोद्वेग को सह्य बनाने के लिए श्रीरामकृष्णदेव ने उनकी देहपर अपना मंगलमय वरद हस्त रखा और उनके साथ बालगोपाल के रूप में तरह-तरह की लीलाएँ करने लगे। अघोरमणिदेवी धन्य हो उठीं, वे पूर्णकाम हो गईं और भावोच्छ्वसित शब्दों में कहने लगीं, "बेटा ! तेरी इस दुःखिया माँ ने बहुत कष्ट सहे हैं। यह जनेऊ बेचकर किसी तरह अपना निर्वाह करती रही है। क्या इसीलिए तू इससे इतना स्नेह कर रहा है ?" उस दिन अघोरमणिदेवी का घर लौटना सम्भव नहीं हुआ। श्रीरामकृष्णदेव के अनुरोध करने पर उन्होंने वहीं स्नान-भोजन किया और फिर बाद में किसी तरह से सन्ध्या होने के पहले कामारहाटी वापस लौटीं। उन्होंने देखा कि बालगोपाल अभी भी उनकी गोद में बैठा हुआ उनके श्वेत-धवल केशों से खेल रहा है।

घर पहुँचकर अघोरमणि देवी फिर नियमानुसार जप करने बैठीं। पर अब यह-सब निभ नहीं सका। जिसे जप निवेदन किया जाता था, जिसकी मंगलमयी मूर्ति का ध्यान-चिंतन किया जाता था, जिसके दर्शन की याचना की जाती थी, वे ही प्रभु जब स्वयं बालगोपाल के रूप में सम्मुख उपस्थित हैं, तब भला ध्यान चिंतन का क्या प्रयोजन हो सकता है ? बालगोपाल तो उनकी गोद में बैठा हुआ तरह-तरह से उन्हें दुलार रहा था। निदान वे

उन्हें लेकर तखत पर लेटीं। किन्तु बालगोपाल की आँखों में नींद कहाँ ? शेषशायी प्रभु बिना तकिया के कैसे सो सकते थे ? वे तखत पर कुलबुलाने लगे। अघोरमणिदेवी ने तब अपनी भुजा पर उनका सिर रखते हुए सान्त्वना दी—"बेटा ! आज तू इसी तरह सो जा। कल मैं भूतो (कामिनीदेवी की ज्येष्ठ पुत्री यज्ञेश्वरी) से कहकर नरम रुईवाला तकिया मँगवा दूँगी।"

इसी दिन से अघोरमणिदेवी वास्तव में 'गोपाल की माँ' बन गईं। वे अब से श्रीरामकृष्णदेव को सदैव गोपाल कहा करतीं। वे इसी दिव्य भाव में दो-तीन मास विचरण करती रहीं। बाद में उन्हें गोपाल का दर्शन मिलना कम हो गया। इसीसे एक दिन वे रोती हुई श्रीरामकृष्णदेव से पूछने लगीं, "मुझसे ऐसा कौनसा अपराध हुआ है ? मुझे पहले के समान तुममें बालगोपाल का दर्शन क्यों नहीं होता ?" श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें समझाते हुए कहा, "कलिकाल में ऐसी अवस्था में सदैव नहीं रहा जा सकता। इक्कीस दिनों के बाद शरीर सूखे पत्ते की तरह झड़ जाता है।" इसी दिव्यभाव में श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से गोपाल की माँ पूरे तीन महीने रहीं। कालान्तर में जब नरेन्द्रनाथ (परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द) से श्रीरामकृष्णदेव ने गोपाल की माँ का परिचय कराया और उनसे नरेन्द्र को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को बताने का अनुरोध किया, तब गोपाल की माँ ने अपने दर्शन के सम्बन्ध में उन्हें सब कुछ बता दिया और फिर रोते हुए

पूछने लगीं, "वेटा ! तुम लोग तो पढ़े लिखे हो; तुम्हीं बताओ, क्या मेरे सब दर्शन मिथ्या तो नहीं थे ? अब तो मुझे वैसे दर्शन नहीं होते, इसीलिये मैं तुमसे यह सब पूछ रही हूँ।" नरेन्द्रनाथ ने तब गोपाल की माँ को समझाते हुए कहा था, "नहीं माँ ! तुम्हारे दर्शनादि मिथ्या नहीं हैं अपितु वे बिलकुल सत्य हैं; तुमने जो कुछ देखा है सब सच है।"

बालगोपाल के सान्निध्य के इस दिव्यकाल में गोपाल की माँ का जीवन भीतर-बाहर आनन्दसे भरपूर हो गया था। जब वे सुबह उठतीं तो देखतीं, गोपाल उनकी गोद में बैठा हुआ उनकी ओर बड़े प्रेम से देख रहा है। जब वे रसोई के लिए लकड़ियाँ बीनतीं, तब देखतीं कि बाल-गोपाल भी उनके साथ लकड़ियाँ बीन रहा है। गोपाल उनके जीवन में समा गया। रसोई बनाते समय वे अनुभव करतीं कि गोपाल उनकी पीठ पर बैठा हुआ है। अब गोपाल की माँ की सारी आचारनिष्ठा समाप्त हो गई क्योंकि गोपाल के मन में जब आता तभी वह खाने के लिए माँग बैठता और खाते-खाते उनके मुँह में भी 'खाओ' करके भर दिया करता था। तब गोपाल की माँ से अस्वी-कार करते न बनता क्योंकि मना करने पर गोपाल रोने लगता था। इस दिव्य दर्शन के उपरान्त भी गोपाल की माँ जप किया करती थीं। एक दिन वे श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन करने के उपरान्त नौबतखाने में उनकी जीवनसंगिनी श्री माँ सारदादेवी के पास गईं और वहीं बैठकर जप

करने लगीं। जब श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें जप करते देखा तो पूछा, "तुम अब इतना जाप क्यों करती हो? तुम्हारा तो सब-कुछ (दर्शनादि) हो चुका है?" विस्मित होकर गोपाल की माँ ने कहा, "क्या कहते हो? क्या सचमुच मेरा सब-कुछ हो गया है?" श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "हाँ, अब तुम्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु तुम इस शरीर (अपनी ओर इङ्गित करते हुए) के कल्याण के लिए जाप कर सकती हो।" इसके पश्चात् ही गोपाल की माँ ने अपनी कण्ठी-माला गंगाजी में प्रवाहित कर दी और श्रीरामकृष्णदेव की कल्याण-कामना से कर में ही जप करने लगीं।

श्रीरामकृष्णदेव और गोपाल की माँ का सम्बन्ध बड़ा ही विलक्षण था। जहाँ गोपाल की माँ के हृदय में श्रीरामकृष्णदेव को देखते ही यशोदा-भाव का उद्दीपन हो जाया करता था, वहाँ श्रीरामकृष्णदेव भी बालगोपाल के भाव में तन्मय हो जाया करते थे। एक बार श्रीरामकृष्णदेव को उनके एक अनन्य गृहस्थ भक्त श्रीयुत बलराम बोस ने श्रीजगन्नाथ जी की पुनर्यात्रा-उत्सव देखने के लिये आमंत्रित किया। श्रीरामकृष्णदेव अपने बालभक्तों के साथ वहाँ यथासमय सम्मिलित हुए और बलराम बोस से कहकर उन्होंने वहाँ गोपाल की माँ को भी बुलवा लिया। गोपाल की माँ के आने के कुछ समय पहले ही श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हो गए और बालगोपाल की तरह घुटनों के बल चलने लगे। देखते ही देखते उसी अवस्था में उनका मन समाधि में

लीन हो गया और वे जड़वत् हो गये। गोपाल की माँ जब मकान में प्रविष्ट हुई तो उन्हें श्रीरामकृष्णदेव में इष्टदेव का दर्शन उपलब्ध हुआ। श्री बलराम बाबू के यहाँ उपस्थित भक्तगण मुग्ध दृष्टि से श्रीरामकृष्णदेव के इस भावपरिवर्तन को तन्मय होकर देख रहे थे और गोपाल की माँ की भक्ति-भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे जिनके कारण श्रीरामकृष्णदेव को बालगोपाल-भाव का उद्दीपन हुआ था। किन्तु कामारहाटी की ब्राह्मणी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे कहने लगीं—"किन्तु, भाई, मैं तो अपने गोपाल को इस रूप में नहीं देखना चाहती। मेरा गोपाल हँसेगा, खेलेगा, बोलेगा; वह जड़वत् नहीं होगा। यह भला कैसी स्थिति है?"

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव गोपाल की माँ से जितना स्नेह करते थे, उतनी ही कठोरता से वे उनपर शासन भी करते थे। जो आचरण उन्हें अनुचित प्रतीत होता था, उसे वे सहन नहीं कर सकते थे। पुनर्यात्रा का उत्सव देखकर लौटते समय बलराम बाबू की धर्मपत्नी ने प्रेमवश गोपाल की माँ को कुछ आवश्यक वस्तुएँ भेंट दीं। गोपाल की माँ उन वस्तुओं की पोटली लेकर नाव पर श्रीरामकृष्णदेव के साथ बैठीं। श्रीरामकृष्णदेव को यह अच्छा नहीं लगा और वे बार-बार पोटली की ओर देखते हुए एक अन्य महिलाभक्त से गोपाल की माँ को लक्ष्य करके कहने लगे, "जो त्यागी होता है, वह भगवान् के सहारे ही रहता है। वह कोई पोटली नहीं रखता।" गोपाल की माँ समझ गई कि श्रीरामकृष्ण-

देव को यह अच्छा नहीं लगा है। उनकी इच्छा हुई कि वे उस पोटली को गंगाजी में फेंक दें, किन्तु अपने को रोककर बैठी रहीं और दक्षिणेश्वर पहुँचते ही सीधे श्री सारदा देवी के पास जाकर अनुतप्त स्वर में कहने लगीं, "देखो तो बहू, बलराम बाबू की पत्नी ने ये वस्तुएँ मुझे प्रेम से भेंट दी हैं किन्तु मेरे गोपाल को यह अच्छा नहीं लगा। अब मेरी इन वस्तुओं को रखने की तनिक भी इच्छा नहीं है। मैं इन्हें बाँट देना चाहती हूँ।" करुणामयी श्री माँ ने वृद्धा के अनुताप को जान लिया; वे उन्हें सान्त्वना देते हुए बोलीं, "नहीं माँ ! तुमने भला क्या गलती की है? आवश्यक जानकर ही तुम इन्हें अपने साथ लाई हो। उन्हें कहने दो।" फिर भी गोपाल की माँ को शांति न मिली और अधिकांश वस्तुओं को उन्होंने वहीं वितरित कर दिया। इसके बाद वे बहुत डरते-डरते श्रीरामकृष्णदेव को भोजन कराने गईं। श्रीरामकृष्णदेव अपार दयामय थे। उन्होंने गोपाल की माँ को सन्तप्त देखकर उनके साथ बड़े प्रेम से बातें कीं जिससे वृद्धा का सारा विषाद मिट गया और वे आश्वस्त होकर कामारहाटी लौटीं।

जिस प्रकार गोपाल की माँ श्रीरामकृष्णदेव को बड़े प्रेम और वात्सल्य के साथ अपने हाथों से भोजन कराया करती थीं, उसी प्रकार श्रीरामकृष्णदेव ने भी, शिशु की तरह, अनेकों बार गोपाल की माँ को अपने ही हाथों से भोजन कराया था। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव फिर उन्हें

इसी प्रकार खिलाने लगे। गोपाल की माँ ने जिज्ञासावश पूछा, "गोपाल! तुम्हें मुझको इस प्रकार खिलाना क्यों अच्छा लगता है?" श्रीरामकृष्णदेव ने उत्तर दिया, "क्योंकि तुमने मुझे पहले खिलाया है।" गोपाल की माँ ने फिर पूछा, "मैंने भला तुम्हें इसप्रकार कब खिलाया है?" श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "पूर्व जन्मों में!" श्रीराम-कृष्ण का गोपाल की माँ के प्रति अलौकिक प्रेम था। परवर्ती काल में जब श्रीरामकृष्णदेव गले की बीमारी से पीड़ित होकर काशीपुर उद्यान भवन में निवास कर रहे थे तब उन्हें एक दिन खीर खाने की इच्छा हुई। बलराम बाबू के यहाँ से खीर बनाकर लाई गई, किन्तु वह बहुत गाढ़ी थी और श्रीरामकृष्णदेव उसे पी नहीं सकते थे। इसलिए उन्होंने गोपाल की माँ से वह खीर खाने का आग्रह किया। श्रीरामकृष्णदेव जानते थे कि वे ही गोपाल की माँ के हृदय में गोपाल-रूप में विद्यमान हैं तथा वे ही उनके माध्यम से वह खीर ग्रहण करेंगे।

श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के पश्चात् गोपाल की माँ बहुत दिनों तक अपने कामारहाटी के ही मकान में शोकसंतप्त रहीं। किन्तु जब उन्हें पुनः दर्शनादि मिलने लगे तो वे पर्याप्त प्रकृतस्थ हुईं। उन्हें इसके बाद भी गोपाल के दर्शन हुआ करते थे। एक बार रथयात्रा का उत्सव देखते हुए उन्हें गोपाल के विश्वरूप का दर्शन हुआ था—उनकी दृष्टि जिधर गई उधर ही उन्हें गोपाल के

दर्शन हुए—गोपाल ही देवता के आसन पर विराजमान हैं, वे ही रथ हैं और वे ही रथी भी हैं। 'जित देखूँ तित श्याममयी' की दिव्य अनुभूति से गोपाल की माँ अत्यन्त हर्षित होकर नृत्य करने लगीं और उनकी बाह्य चेतना लुप्त होगई। इस घटना के उपरान्त, वे जब कभी अशांति का अनुभव करतीं, वे श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-भक्तों के पास वराह नगर मठ में चली जातीं और श्रीरामकृष्णदेव को भोग-नैवेद्य अर्पित कर स्वर्गिक प्रशांति पा लेतीं। गोपाल की माँ ने यह जान लिया था कि उनका गोपाल (श्रीराम-कृष्णदेव) अपने शिष्यों एवं भक्तों में समा गया है और इसी बोध से सम्पन्न होने के कारण उन्होंने भगिनी निवेदिता, सारा और जया आदि विदेशी महिला-भक्तों को माता की तरह प्रेम किया था और उनका चुम्बन लिया था।

सन् १९०४ से गोपाल की माँ वृद्धावस्था के कारण अत्यन्त अशक्त एवं दुर्बल हो चलीं थीं। इसलिए भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों ने उन्हें बलराम बोस के बोस-पाड़ा वाले मकान में रखा था। भगिनी निवेदिता गोपाल की माँ के जीवन से बहुत प्रभावित थीं और वे उनकी सेवा करना चाहती थीं। इसलिए तबसे गोपाल की माँ निरन्तर भगिनी निवेदिता के साथ रहीं और अन्त में गंगाजी के पुनीत तट पर उन्होंने अपना प्राण विसर्जित कर दिया। भगिनी निवेदिता ने स्वयं अपने हाथों से उनके शरीर को फूलों से सजाया था। वे महामानवी थीं।

प्रभु के जीवन के एक आवश्यक पक्ष का उद्घाटन करने के लिए उनका आगमन हुआ था। गोपाल की माँ जीवन्त श्रद्धा और वात्सल्य - रति के अलौकिक भाव का पूंजीभूत विग्रह स्वरूप थीं तथा युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें प्राचीन भारत की प्रतिमूर्ति के रूप में देखा था।

—x—

भगवान ने इन्सान को अपनी तरह बनाया, पर दुर्भाग्य से इन्सान ने भगवान् को अपनी तरह बना डाला।

— महात्मागाँधी

मैं ही जीवन और पुनर्जीवन हूँ। जो मुझमें विश्वास रखता है, वह मरकर भी जीवित रहेगा।

— प्रभुईसा

मिस नोबल से भगिनी निवेदिता

श्री रामेश्वर नन्द

स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका की एक संभ्रान्त और भारत-प्रेमी महिला श्रीमती बुल को अपने पत्र में लिखा था, "यदि मैं संन्यासियों के लिए और नारियों के लिए दो मठों का निर्माण नहीं कर सका तो मेरा कार्य अधूरा रह जाएगा।" वे भारतीय नारियों के उपेक्षित, अशिक्षित एवं अंधविश्वासों से पूर्ण जीवन को देखकर रो पड़ते थे। टैगोर परिवार की एक विदुषी महिला सरला घोषाल को भी उन्होंने इसीप्रकार का एक दूसरा पत्र लिखा था। सरला घोषाल 'भारती' पत्रिका की सम्पादिका थीं तथा उन्हें हिन्दू-धर्म और वेदान्त का अच्छा ज्ञान था। स्वामीजी ने यह जान लिया था कि एक नारी ही भारतीय नारी-जागरण की सर्वश्रेष्ठ उद्घोषिका हो सकती है। इसीलिए उन्होंने सरला घोषाल को इस महान् कार्य के लिए प्रोत्साहित करते हुए लिखा था—

"शिक्षा, शिक्षा, मात्र शिक्षा! जब मैं यूरोप के विभिन्न नगरों में भ्रमण करते हुए वहाँ के गरीब लोगों की शिक्षा और अन्य सुविधाओं को देखता था तब मुझे अपने देशवासियों की दरिद्रता पूर्ण स्थिति का स्मरण हो आता था और मैं आँसू बहाया करता था। जब मैं यह सोचता कि

यह अंतर क्यों है तब मुझे इसका उत्तर मिलता—शिक्षा ! पुरुषों के समान ही नारियों के लिए भी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना करना आवश्यक है। किन्तु तुम्हें तो यह ज्ञात है ही कि इस देश में यह कार्य कितना कठिन है ! इस कार्य के लिए पश्चिम से ही आवश्यक धन प्राप्त करना होगा, और इसके लिए हमें यूरोप और अमेरिका में अपने धर्म का प्रचार करना होगा। मेरा यह विश्वास है कि यदि तुम्हारे समान वेदान्त में निष्णात, साहसी और प्रभावशालिनी नारियाँ इँग्लैण्ड में प्रचारार्थ जाएँ तो प्रतिवर्ष हजारों लोग भारत के धर्म को अपना कर कृतार्थ हो जाएँगे। ··· मैं अपनी दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि यदि भारतीय वेश में कोई भारतीय नारी भारत के ऋषि-मुनियों के अधरों से निःसृत इस धर्म का प्रचार करे तो एक ऐसी महान् लहर उठेगी जो समस्त पश्चिमी जगत् को डुबा लेगी। क्या मैत्रेयी, खन्ना, लीलावती, सावित्री और उभय भारती के देश में एक भी ऐसी नारी नहीं है जो इस कार्य को पूरा करने का साहस कर सके ?"

असल में, उन दिनों भारत में ऐसी महान् नारियों का सर्वथा अभाव हो गया था और सरला घोषाल भी राष्ट्र-नायक संत के इस आह्वान को कतिपय कारणों से स्वीकार नहीं कर सकी थीं। उनके इस महान् स्वप्न को भगिनी निवेदिता ने साकार किया। भगिनी निवेदिता भारतीय नहीं थीं। उनका जन्म भारत से दूर—बहुत दूर पश्चिम में हुआ था। उनके कार्यों को देखकर ऐसा लगता है कि

स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय महिलाओं की सेवा और उत्थान के लिए जिस महान् कार्य की कल्पना की थी, उसी को पूरा करने के लिए उस भारतीय आत्मा ने विदेश में जन्म ग्रहण किया था। विदेशों में उपलब्ध शिक्षा में दीक्षित होकर, अपनी भारतीय माताओं और बहनों की सेवा के लिए स्वयं को योग्य बनाने के लिए ही मानो उन्होंने अपने जन्म के लिए विदेशी भूमि को चुना था।

भगिनी निवेदिता का जन्म आयलैंड के डूँगनान, काउण्टी टाइरोन में २८ अक्टूबर सन् १८६७ में हुआ था। उनका पूरा नाम मार्गरेट एलिजाबेथ नोबल था। उनके पिता सैमुएल रिचमण्ड एक पादरी थे तथा उनकी माता मेरी इसाबेल हैमिल्टन बड़ी धर्मनिष्ठ महिला थीं। धार्मिक वातावरण से पूर्ण घर में मिस नोबल को शैशव से धर्म की शिक्षा दी गई थी। मिस नोबल के जन्म के पूर्व एक उल्लेखनीय घटना घटी थी। गर्भकाल में उनकी माता बार-बार ईश्वर से प्रार्थना किया करती थीं कि यदि उनके शिशु का जन्म सुरक्षित रूप से हो गया तो वे उसे प्रभु के चरणों में निवेदित कर देंगी; और दैवयोग से वही बालिका आगे चलकर विश्वविख्यात भगिनी निवेदिता के नाम से जानी गई।

मिस नोबल शैशव से ही अपने पिता के साथ गरीबों की बस्तियों में जाया करती थीं और उनके सेवा-कार्य में भाग लिया करती थीं। वे बड़ी श्रद्धा के साथ शिशु-ईसा

की पूजा किया करती थीं तथा नियमित रूप से अपने पवित्र धर्म-ग्रन्थ बाइबिल का पारायण भी करती थीं। कभी-कभी वे यह भी सोचती थीं कि वे उस महान् पुरुष की समुचित भक्ति नहीं कर पा रही हैं जिसने मनुष्यों को उनके पापों से मुक्त करने के लिए अपने प्राणों को विसर्जित कर दिया था। इसप्रकार के विचार से उनका मन आकुल हो उठता था। किन्तु जैसे-जैसे उनका शैशव समाप्त होता गया और वे बौद्धिक रूप से परिपक्व होती गईं, वैसे-वैसे उनके मन में धार्मिक मान्यताओं को लेकर नए-नए प्रश्न उठने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि ईसाई धर्म में बताई गईं अनेक बातें विश्वसनीय नहीं हैं। उनका तर्कशील मस्तिष्क और सूक्ष्म विवेक ईसाई धर्म के अनेक सिद्धान्तों के प्रति विद्रोही हो उठा। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस धर्म की अनेक मान्यताएँ सही नहीं हैं। मिस नोबल के मन में सत्य की अदम्य पिपासा जाग उठी। वे अब स्वयं को अंधविश्वासों में बाँधकर रखने में समर्थ नहीं हो सकीं। ईसाई धर्म के बँधे-बँधाए सिद्धान्त उनके स्वतंत्र चिन्तनशील मस्तिष्क के लिए गत्यावरोध उपस्थित करने लगे। अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए उन्होंने बौद्ध धर्म का अध्ययन भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु उन्हें यहाँ भी ऐसा प्रतीत हुआ कि बौद्ध धर्म के सिद्धान्त उन्हें सत्यानुभूति कराने में समर्थ नहीं हैं। 'हिन्दू लेडीज एसोसियेशन' बम्बई में, सन् १९०२ में, अपने विगत जीवन के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था—

"मेरा जन्म और पालन-पोषण एक अंग्रेज नारी की तरह हुआ था तथा अठारह वर्ष की उम्र तक मुझे वही शिक्षा मिली थी जो अन्य अंग्रेज लड़कियों को दी जाती थी। पर उसके पहले से ही मुझमें ईसाई धर्म के सिद्धान्त भर दिए गए थे। मैं उन सब धार्मिक सिद्धान्तों का सम्मान करती थी तथा बालक-ईसा की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा किया करती थी। उनके स्वेच्छापूर्वक किए गए आत्मोत्सर्ग के कारण मैं उनपर अनन्य भाव से श्रद्धा करती थी और ऐसा भी अनुभव करती थी कि उन्होंने मनुष्यों की मुक्ति के लिए जितना कष्ट सहा है उस अनुपात में मैं उनकी भक्ति नहीं कर पा रही हूँ।

"किन्तु अठारह वर्ष की आयु के उपरान्त मेरे मन में ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों के प्रति अविश्वास उभरने लगा। उनमें से अनेक सिद्धान्त मुझे झूठे और सत्य से रहित प्रतीत होने लगे। ये शंकाएँ दृढ़ से दृढ़तर होती गईं और ईसाई-धर्म के प्रति मेरा विश्वास लड़खड़ाने लगा। सात वर्षों तक मैं इसी प्रकार के संघर्ष से व्याकुल रही। मैंने चर्च जाना बन्द कर दिया था किंतु अनेक बार मैं अपनी मानसिक अशांति से छुटकारा पाने के लिए चर्च जाकर ध्यान करने के लिए विवश हो जाती थी। किन्तु आह! वहाँ भी मेरी व्याकुल आत्मा को शांति नहीं मिली—विश्राम न मिला।"

उपर्युक्त पंक्तियाँ मिस नोबल की धार्मिक मान्यताओं और भावनाओं का बड़ा स्पष्ट ज्ञान कराती हैं। आस्था

और संदेह के इसी संघर्षकाल में मिस नोबल के जीवन में सत्य के सूर्य के रूप में स्वामी विवेकानन्द का आगमन होता है। एक दिन उन्हें अपनी मित्र श्रीमती इज़ाबेल मार्गेसन से सूचना मिलती है कि उनके घर में वही विश्व-विजयी स्वामी विवेकानन्द आने वाले हैं जिन्होंने शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू-धर्म का सिंह-गर्जन किया था। मिस नोबल इस महान् हिन्दू संन्यासी के सम्बन्ध में पहले से ही कुछ जानती थीं, अतः वे अपनी मानसिक अशांति और जिज्ञासा के परिशमन के लिए उनके दर्शन करने जाती हैं। उस दिन श्रीमती मार्गेसन ने स्वामी विवेकानन्द के दर्शन के लिए अपने ही कुछ आत्मीय जनों को आमंत्रित किया था। वहाँ कुल मिलाकर पन्द्रह - सोलह व्यक्ति उपस्थित थे।

यह सन् १८९५ के नवम्बर मास की घटना है। उस दिन रविवार था। भगिनी निवेदिता गुरुदेव के साथ अपनी प्रथम भेंट का स्मरण करते हुए लिखती हैं :—

"नवम्बर मास की उस ठण्डी दुपहरी में वे वेस्ट एण्ड के बैठकखाने में श्रोताओं की ओर मुख किए हुए बैठे थे। उनके पीछे अँगीठी में आग जला दी गई थी। उनसे लोग प्रश्न पर प्रश्न कर रहे थे और वे उनका उत्तर संस्कृत के श्लोकों को उत्धृत करते हुए दे रहे थे। गोधूलि की बेला अंधकार में विलीन हो गई और वे लोग सब इसप्रकार बैठे थे मानों भारत के किसी गाँव में, गाँव के बाहर किसी वृक्ष के नीचे या कुएँ के समीप, एक साधु के पास बैठे हों।

फिर कभी मैंने उन्हें इतनी सरल मुद्रा में बैठकर शिक्षा देते हुए नहीं देखा।···यदा-कदा उनके मुख से "शिव' 'शिव" उच्चरित होता रहता था। उनके चेहरे पर सौजन्यता और उदारता मिश्रित एक ऐसा भाव था जो उन्हीं चेहरों में दीखता है जिनका जीवन चिन्तन में बीता हो। उनमें एक ऐसा भाव था जो रेफैल द्वारा चित्रित शिशु-ईसा की आँखों में दीखता है।"

इस प्रथम भेंट में ही मिस नोबल ने यह अनुभव किया कि उन्हें उस महान् गुरु की प्राप्ति हो गई है जिसकी वे खोज कर रही थीं। इन्हीं महान् पुरुष के चरणों के समीप बैठकर उन्हें अपनी अनेक शंकाओं का पहली बार समाधान मिला था। एक दिन कक्षा में प्रश्नोत्तर के समय स्वामीजी का कण्ठ-स्वर फूट पड़ा :—

"आज संसार को ऐसे बीस नर-नारियों की आवश्यकता है जो रास्ते में खड़े होकर यह कह सकें कि उनके भीतर ईश्वर के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कौन आगे बढ़ेगा··?" उन्होंने फिर कहा था—"किसीको क्यों डरना चाहिये ? यदि यह सत्य है तो अन्य बातों की क्या चिन्ता ? यदि यह मिथ्या है तो फिर तुम्हारे जीवन का और अर्थ ही क्या है ?"

इन शब्दों ने मिस नोबल के अंतर को झकझोर दिया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने स्वामीजी को, अपने जीवन को उनके चरणों में समर्पित कर देने की इच्छा से, एक पत्र

लिखा। उन्होंने अपने पत्र में स्वामीजी से उनके कार्यों और योजनाओं के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी। कुछ ही दिनों के बाद उत्तर के रूप में उन्हें स्वामीजी का निम्नलिखित पत्र मिला :—

६३, सेंट जार्ज मार्ग,
लन्दन, ७ जून १८९६

प्रिय मिस नोबल,

मेरा आदर्श थोड़े से शब्दों में इसप्रकार है : मनुष्य मात्र को जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उसके देवत्व को प्रकाशित करने की शिक्षा देना। यह संसार अंधविश्वास की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। मुझे उत्पीड़ित नर-नारियों पर तो दया आती है किन्तु उससे भी अधिक दया मुझे अत्याचारियों पर आती है। एक विचार जो मुझे सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है वह यह है कि इन समस्त दुःखों का कारण अज्ञान के अलावा कुछ भी नहीं है। संसार को कौन प्रकाश देगा ? प्राचीन काल का आदर्श आत्म - बलिदान रहा है और वही आगामी युगों तक रहेगा। संसार के श्रेष्ठ और साहसी लोगों को बहुजन के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना होगा। आज असीम स्नेह और करुणा से पूर्ण सैकड़ों 'बुद्धों' की आवश्यकता है।

विश्व के धर्म निर्जीव और उपहासास्पद बन गए हैं। संसार को आज चरित्र की आवश्यकता है। संसार आज

ऐसे लोगों की कामना कर रहा है जिनका जीवन स्वार्थ-रहित एवं प्रेम से प्रज्वलित हो। वह प्रेम प्रत्येक शब्द को विद्युत् के समान प्रभावशाली बना देगा। मेरी धारणा है कि तुममें अन्धविश्वास नहीं है, तुममें संसार को हिला देने की शक्ति है। बाद में अन्य लोग भी आएँगे। हमें आवश्यकता है साहसी शब्दों की और उससे भी अधिक साहसिक कर्मों की। जागो महाप्राण! जागो!! संसार जब दुःख में जल रहा है तब क्या तुम सो सकती हो? हम तब तक बार-बार पुकारते रहेंगे जब तक सोए हुए देवता न जागें—जब तक हमारे अन्तर में निहित ईश्वर उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और क्या है? और कौनसा कार्य महान् है? ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ता हूँ, ब्योरे अपने आप आते हैं। मैं योजनाएँ कभी नहीं बनाता; योजना स्वतः बनती है और क्रियान्वित होती है। मैं केवल इतना ही कहता हूँ—जागो! जागो!!

तुम्हें मेरे समस्त आशीर्वाद।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

अब मिस नोबल अपने गुरु के कार्य और आदर्श को जान गई थीं—बलिदान ही उसका आधार था और चरित्र उसकी आधारशिला थी। उन्होंने भारत जाकर अपने शेष जीवन को माँ भारती की सेवा के लिए उस दिव्य पुरुष

के चरणों में समर्पित करने का निश्चय कर लिया। जब स्वामीजी मिस नोबल की दृढ़ निष्ठा और भारत-प्रेम के विषय में अवगत हुए तब उन्होंने उनके आगमन का स्वागत करते हुए लिखा था, "मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से यह बता देना चाहता हूँ कि मुझे इस बात का विश्वास है कि तुम्हारे कार्य के लिए भारत में एक विशाल भविष्य है। आज किसी पुरुष की आवश्यकता नहीं है बल्कि आवश्यकता एक ऐसी नारी की, एक ऐसी सिंहनी की है जो भारतीयों के लिए और, विशेषकर, स्त्रियों के लिए कार्य कर सके।"

"भारतमाता अभी भी ऐसी नारियाँ प्रदान नहीं कर सकती, इसलिये उसे अभी अन्य देशों से लेना होगा। आज आवश्यकता है तुम्हारी शिक्षा की, निष्ठा और पवित्रता की, अनन्य प्रेम और दृढ़ता की; इन सबसे परे, तुम्हारे सेल्टिक रक्त की और तुम्हारे समान नारी की।" स्वामीजी ने उन्हें पुनः लिखा था—"इस कार्य में प्रवृत्त होने के पहले तुम भली-भाँति सोच लो। भले ही तुम अपने कार्य में असफल हो जाओ या ऊब जाओ, भारत के लिए कार्य करो या न करो, वेदान्त को अपनाओ या छोड़ दो, किन्तु मैं सभी स्थितियों में मृत्युपर्यन्त तुम्हारा साथ दूँगा। 'हाथी के दाँत बाहर निकलते हैं किन्तु अन्दर कभी नहीं लौटते', उसीप्रकार मनुष्य का दिया वचन भी कभी वापस नहीं होता।"

साथ ही उन्होंने मिस नोबल को भारत की भाषा इत्यादि कठिनाइयों से परिचित करा दिया था। इस सब

बातों के बावजूद भी उनका निश्चय दृढ़ रहा। वे भारत के लिए सब कुछ सहने और करने को प्रस्तुत थीं।

अपने गुरु की स्वीकृति एवं आशीर्वाद प्राप्त करने के उपरान्त मिस नोबल भारत के लिए रवाना हो गईं। वे १८ जनवरी सन् १८९८ को कलकत्ता पहुँचीं। इस समय उनकी आयु इकतीस वर्ष की थी। उनका स्वागत करने के लिए अन्य लोगों के साथ स्वयं स्वामी विवेकानन्द जी बन्दरगाह में उपस्थित थे। उनके लिए भारत में सब कुछ नया था—यहाँ के लोग, यहाँ की वेशभूषा, यहाँ की भाषा, यहाँ का रहन-सहन—सभी कुछ नया था। स्वामीजी ने उनके लिए शीघ्र ही बँगला और संस्कृत की शिक्षा की व्यवस्था करा दी। जब कभी उन्हें समय मिलता तो वे शहर के उत्तरी भाग की ओर घूमने चली जातीं और वहाँ के निवासियों को तथा उनके सुख-दुःख को समझने का प्रयास करतीं। थोड़े ही दिनों में वे डा० जगदीशचन्द्र बोस, उनकी बहिन लावण्य प्रभा बोस, टैगोर और उनकी माता, तथा सरला घोषाल आदि प्रसिद्ध लोगों से परिचित हो गईं। यहीं पर उनका मिस मेक्लाउड, मिस मूलर, श्रीमती साराबुल इत्यादि यूरोपीय भक्त महिलाओं से भी परिचय हुआ। इसके पश्चात् मिस नोबल के जीवन में अन्य दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। एक थी श्री माँ सारदादेवी से उनकी भेंट और दूसरी, उनका ब्रह्मचर्य में दीक्षित होना। १८ मार्च सन् १८९८ को वे सर्वप्रथम श्री माँ से मिलीं। मिस नोबल ने इस प्रथम दर्शन का उल्लेख अपनी डायरी

में 'दिनों में सर्वश्रेष्ठ दिन' के नाम से किया था। शुक्रवार २५ मार्च सन् १८९८ का दिन मिस नोबल के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण दिन था। आज उन्होंने एक नए जीवन में प्रवेश किया था। आज उन्होंने गुरुदेव से ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण की थी और दीक्षा के साथ गुरुदेव ने मिस नोबल को एक नया नाम भी दिया था। उनके गुणों एवं कार्यों के अनुरूप उन्हें 'निवेदिता' का नाम प्रदान किया गया। गुरुदेव ने शिव की पूजा करने के उपरान्त उन्हें भगवान् बुद्ध की पूजा करने का निर्देश देते हुए कहा था—"तुम उठो और उनका अनुसरण करो जिन्होंने बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए पाँच सौ बार अपना जीवन उत्सर्ग किया था।"

अब हम मिस नोबल को एक सर्वथा नए रूप में देखेंगे। अब हम उन्हें केवल निवेदिता के नाम से सम्बोधित करेंगे। निवेदिता ने गुरुदेव से अपने भावी कार्य के बिषय में जिज्ञासा करते हुए पूछा था कि वे किस प्रकार उनके कार्य के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। गुरुदेव ने तब उन्हें एक छोटा सा उत्तर दिया था, "भारत से प्रेम करो।" निवेदिता ने अपने गुरुदेव के इसी उपदेश को अपने जीवन का आदर्श बना लिया। राष्ट्र की सेवा उनके जीवन का धर्म बन गया और देखते ही देखते भगिनी निवेदिता आध्यात्मिक क्षेत्र की सीमाओं को लाँघ कर राजनितिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं। उनका विश्वास था कि जब तक राष्ट्र स्वाधीन नहीं हो जाता तब तक उसके

सुधार के सभी प्रयत्न व्यर्थ होंगे। वे समझती थीं कि पराधीन रहकर स्वतंत्र चिन्तन शक्ति का उन्मेष करना असम्भव है। इसप्रकार उन्होंने अपने जीवन को एक साथ शिक्षा, साहित्य, धर्म और राजनीति के उन्नयन में लगा दिया।

अपने गुरुदेव के प्रथम आदेश 'नारी शिक्षा और जागरण' को साकार करते हुए निवेदिता ने कलकत्ता की बोसपारा गली में एक कन्या प्राथमिक शाला का प्रारम्भ किया। इस छोटीसी कन्याशाला का आरम्भ भी अनेक कठिनाइयों के बीच हुआ। तत्कालीन धार्मिक मान्यताएँ एवं परिस्थितियाँ नारीशिक्षा के पक्ष में नहीं थीं। उसे कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। निवेदिता के सामने कार्यकर्त्ताओं की समस्या थी और धन का भी अभाव था। और, सर्वोपरि, वे एक विदेशी महिला थीं। किन्तु उनके हृदय में अपने गुरुदेव के प्रति अगाध श्रद्धा भरी थी। कोई भी कार्य कितना ही जटिल क्यों न हो, पर यदि कर्त्ता में दृढ़ आत्मविश्वास और ईश्वर में अगाध निष्ठा होती है तो वह असफल नहीं होता। यह सम्भव हो सकता है कि कर्त्ता को अपने जीवन काल में सफलता न मिले। १४ नवम्बर सन् १८९८ को प्रारम्भ किया गया यह स्कूल, अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी, कालान्तर में एक विशाल स्कूल के रूप में परिवर्तित हो गया। निवेदिता के जीवन काल में इस स्कूल को लोग अनेक नामों से जानते थे। निवेदिता ने इसे 'श्रीरामकृष्ण कन्याशाला' का

नाम दिया था। कुछ पश्चिमी मित्र इसे 'विवेकानन्द स्कूल' के नाम से, तथा आसपास के लोग इसे 'निवेदिता स्कूल' के नाम से जानते थे। निवेदिता के देहावसान के उपरान्त इसे रामकृष्ण मिशन ने ले लिया तथा इसका नाम 'रामकृष्ण मिशन भगिनी निवेदिता कन्याशाला' रखा गया। आज भी इस स्कूल का विराट भवन अपनी तपस्विनी स्वामिनी के त्याग और तपस्या का मूल प्रतीक बनकर खड़ा हुआ है।

साहित्य - जगत् में भी निवेदिता समान रूप से विख्यात थीं। तत्कालीन बड़े - बड़े विद्वानों ने उनकी विद्वत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया था। कहा जाता है कि निवेदिता की हिन्दू धर्म के प्रति अगाध निष्ठा और अंग्रेजों के प्रति उनकी उपेक्षा को देखकर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'गोरा' नामक अपने उपन्यास में 'गोरा' के चरित्र- चित्रण की प्रेरणा मिली थी। निवेदिता ने विश्व-विख्यात वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस के शोधकार्य में बड़ी सहायता की थी तथा उन्होंने ही श्री बोस के शोधग्रन्थ 'कम्परेटिव इलेक्ट्रो - फिजियॉलॉजी' की पाण्डुलिपि का लेखन - कार्य किया था। श्री जगदीशचन्द्र बोस भगिनी निवेदिता से अपार स्नेह करते थे तथा उन्होंने अपनी वसीयत में निवेदिता के स्मारक का निर्माण करने के लिए एक लाख रुपये की व्यवस्था की थी। निवेदिता ने अनेकानेक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं :—'काली दि मदर', 'क्रेडल टेल्स ऑव हिन्दुइज्म', 'नोट्स ऑन सम वाण्डरिंग्स विथ

दि स्वामी विवेकानन्द', 'दि वेब ऑव इण्डियन लाइफ', 'स्टडीज़ फ्राम एन ईस्टर्न होम', 'लैम्ब एमङ्ग वूल्वज', 'एग्रेसिव हिन्दुइज़्म', 'मीथ्ज़ ऑव दि हिन्दूज़ एण्ड बुद्धिस्ट्स', 'फूट फाल्स ऑव इण्डियन हिस्ट्री', 'रिलीज़न एण्ड धर्म', 'नेशनल एजुकेशन इन इण्डिया', और 'दि मास्टर ऐज़ आई सा हिम'। अन्तिम ग्रन्थ में, निवेदिता ने अपने गुरु को जिस रूप में देखा था, उनसे जो शिक्षा ग्रहण की थी, उसका वर्णन किया है। समस्त विश्व ने इस पुस्तक का अद्भुत सम्मान किया है। इसकी समालोचना करते हुए प्रो० टी० के० चिने ने 'हिबर्ट जर्नल' नामक पत्रिका में लिखा था—"यह पुस्तक विविध धर्मग्रंथों के बाद, धार्मिक साहित्य के 'कन्फेशन्स ऑव सेन्ट अगस्टिन' तथा सैबेटियर की 'लाइफ ऑव सेन्ट फ्रान्सिस' जैसे चुने हुए महान् ग्रन्थों के समकक्ष रखी जा सकती है।"

'दि वेब ऑव इण्डियन लाइफ' में निवेदिता ने भारत के तथा हिन्दू धर्म के विरोध में ईसाई मिशनरियों के अनर्गल प्रचार का मुँहतोड़ जवाब दिया है। सन् १९०४ में इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ समस्त पश्चिमी जगत् में इसकी प्रसिद्धि एक क्रान्ति के समान फैल गई। यद्यपि एक विदेशी मिशनरी मिस एमी विल्सन कारमाइकेल ने 'थिंग्ज ऐज़ दे आर' नामक पुस्तक में निवेदिता की पुस्तक का विरोध करने का कुत्सित प्रयास किया था किन्तु ईसाई देशों में ही उसका तीव्र विरोध हुआ। निवेदिता की पुस्तक की समीक्षा करते हुए लन्दन की एक पत्रिका ने लिखा

था—"मिस नोबल की इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् पश्चिमी महिलाओं को भारतीय बहनों के प्रति बनी हुई धारणा को परिवर्तित करने में काफी सहायता मिलेगी।" इस पत्रिका ने आगे लिखा था कि यह पुस्तक ईसाई मिशनरियों और एंग्लोइण्डियन लोगों द्वारा किए गए भारत विरोधी प्रचार और मिथ्या सूचनाओं के लिए एक समाधान प्रस्तुत करती है। निवेदिता की दृष्टि में भारतीय ईसाई मातृभूमि के प्रति गद्दार थे।

इन पुस्तकों की रचना के अलावा निवेदिता ने 'प्रबुद्ध भारत' तथा अरविन्द घोष द्वारा प्रकाशित 'कर्मयोगी' का सम्पादन भी किया था। तत्कालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित हुआ करते थे जिनमें प्रबुद्ध भारत, दि हिन्दू, कर्मयोगी, युगान्तर, स्टेस्ट्समेन माडर्न रिव्यू, अमृत बाजार पत्रिका आदि उल्लेखनीय हैं।

निवेदिता ने सन् १६०६ में अकाल और बाढ़ से पीड़ित लोगों की बड़ी सेवा की थी। यद्यपि उनके साथ अन्य कोई महिला-सहायिका नहीं थी, किन्तु वे घुटनों तक पानी और कीचड़ में से होते हुए खेत की ऊबड़-खाबड़ मेड़ों को पार करते हुए अकेले ही गाँव-गाँव जाया करती थीं और लोगों की सेवा किया करती थीं। उनके अगाध-स्नेह तथा सेवा-भावना ने ग्रामवासियों को मुग्ध कर लिया था और जब वे अपना सेवा-कार्य समाप्त करके वापस लौटा करतीं तो गाँव की महिलाएँ उन्हें बड़ी दूर तक छोड़ने आया करती थीं। कलकत्ते में जब प्लेग का

प्रसार हुआ था, तब निवेदिता ने रोगियों की जो सेवा की थी वह चिरस्मरणीय रहेगी।

किन्तु अभी तो भारत को स्वतंत्र बनाने का उनका महान् कार्य शेष था। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो जाता तब तक उसकी आर्थिक या सामाजिक, राजनैतिक या अन्य किसी भी प्रकार की उन्नति असंभव है। उन्हें जगदीशचन्द्र बोस के साथ किया गया अंग्रेजी शासन का पक्षपात याद था और उनकी आँखों में भारत की दरिद्रता और इस देश की नारियों की दयनीय स्थिति झूल रही थी। 'भारत से प्रेम करो'—यह उनके गुरुदेव का आदेश था किन्तु राजनीति में प्रवेश किए बिना यह असम्भव था। निवेदिता का विश्वास था कि राजनीतिक मुक्ति के अभाव में धर्म शक्ति-हीन हो जाता है। इसीलिए वे अपने लेखों और भाषणों के माध्यम से राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का कभी प्रत्यक्ष रूप से तो कभी परोक्ष रूप से समर्थन करने लगीं। फलतः उन्हें रामकृष्ण मिशन से अलग हो जाना पड़ा। अब उन्हें अपनी जीविका चलाने के लिए बड़ा कठोर परिश्रम करना पड़ता था—उनकी लेखनी ही उनका सबसे बड़ा आधार थी।

यहाँ से निवेदिता के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। अब वे रामकृष्ण मिशन से अलग हो चुकी थीं तथा उनके मिशन-विच्छेद का समाचार १९ जुलाई सन् १९१० की अमृत बाजार पत्रिका में प्रकाशित

हो गया था। अब निवेदिता अधिक मुक्त रूप से अपनी मातृभूमि की सेवा कर सकती थीं। तत्कालीन सभी मान्य राजनीतिक नेता गण उनसे सभी आवश्यक कार्यों में परामर्श लिया करते थे। गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द घोष जैसे अनेक ख्यातिलब्ध नेताओं से उनका घनिष्ठ परिचय था। इन दिनों उनकी लेखनी अत्यन्त ओजस्विनी हो गई थी तथा उनके शब्द ऊर्जा से पुष्ट होते थे। उनके प्रत्येक शब्द में माँ भारती की मुक्ति का संदेश और देश के लिए बलि-दान करने का आह्वान भरा होता था। जब काँग्रेस के सामने भारत के राष्ट्रीय ध्वज का प्रश्न उठा तब निवेदिता ने वज्रचिन्ह अंकित एक ध्वज बनाकर प्रस्तुत किया। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था—"निःस्वार्थ व्यक्ति ही वज्र है। यदि हम निःस्वार्थ बनने का प्रयत्न करें तो हम ईश्वर के हाथों के अस्त्र बन जाएँगे। प्रश्न पूछना हमारा कार्य नहीं है, योजना बनाना या उपाय ढूँढना भी हमारा काम नहीं है, हमारा कार्य तो स्वयं को बलिवेदी पर समर्पित कर देना है। शेष कार्य देवता सम्पन्न करेंगे। ...माँ ! माँ !! तू हमें अहंकार से बचा। हमें सुख, प्रसिद्धि या लाभ की कामना कभी भी न हो। तू हमारे समक्ष सूर्य की किरण बनकर आ और हम तुझमें घुल-मिल जानेवाली शेफालिकाएँ बन जाएँ।"

स्वामीजी के 'मनुष्य-निर्माण' के महत् कार्य को पूर्ण करने के लिए ही निवेदिता ने राजनीति में प्रवेश किया

था। वे कहा करती थीं कि राष्ट्र-निर्माण के बिना मनुष्य-निर्माण असम्भव है। निवेदिता ने अपने गुरुदेव के 'मनुष्य-निर्माण' के आदर्श को 'राष्ट्रीय-चरित्र-निर्माण' के माध्यम से सम्पन्न किया था। उनके शब्दों में मृतक में भी प्राण स्फूर्त करने की शक्ति थी। डाक्टर रासबिहारी घोष ने निवेदिता-स्मारक - सभा में अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा था— "आज यदि हम मृतकों में भी स्फुरण का अनुभव कर रहे हैं तो उसका श्रेय भगिनी निवेदिता को दिया जाना चाहिए, जिन्होंने उनमें प्राण का संचार किया था। यदि हमारे नवयुवकों में नए कार्यों और आदर्शों की ओर, सच्चाई के पथ पर, आगे बढ़ने की जो लगन दीखती है उसका कम श्रेय भगिनी निवेदिता को नहीं है जो आज हमारे बीच से असमय में ही उठा ली गई हैं। कौन कह सकता है कि उनका कार्य व्यर्थ था? कौन कह सकता है कि उन्होंने अपने पीछे आने वालों के लिए पथ को सरल नहीं बनाया?" रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था— "जिसने निवेदिता को देखा है उसने मानों मनुष्य की आत्मा के ही दर्शन कर लिए हैं। यथार्थ में वह हम लोगों की माता थीं। इसके पूर्व हमने इतने साकार रूप में, परिवार की सीमा से ऊपर उठकर, सारे देश में मातृत्व-शक्ति को इसप्रकार छाते हुए नहीं देखा था।"

भगिनी निवेदिता के हृदय में अहर्निश यही प्रार्थना उच्चरित होती रहती थी—"प्रभु! मुझे अपने गुरुदेव के कार्यों को पूर्ण करने की क्षमता दो। मुझे इतनी शक्ति

दो कि मैं उनके शब्दों को सत्यशः घोषित कर सकूँ।" और वे इसी उद्देश्य की प्राप्ति में अनवरत रूप से लगी रहीं। असुविधाओं और कष्टों में उनका जीवन जर्जर हो चला था। अब वे थक गई थीं, यद्यपि उनकी आयु अभी पैंतालीस वर्ष की ही थी। स्वामी विवेकानन्द के समान उन्हें भी अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। सन् १९०४ में उन्होंने अपनी सहेली मिस मेक्लाउड को लिखा था, "तुम्हें स्मरण होगा, कीरो (Cheiro) ने मुझसे कहा था कि मैं बयालीस और चवालीस के बीच चली जाऊँगी। अभी मैं छत्तीस वर्षों की हूँ और मुझे लगता है कि मैं सन् १९१२ में नहीं रहूँगी।"

उनकी भविष्यवाणी एकदम सच हुई और भारतमाता की यह पुत्री दार्जिलिंग में १३ अक्टूबर सन् १९१२ को इस लोक से प्रस्थान कर गयीं। उनकी मृत्यु से सारे देश में शोक की लहर दौड़ गई। उनके कार्यों को शब्दों में व्यक्त करना असम्भव है। उनकी समाधि में लिखा है—"यहाँ भगिनी निवेदिता विश्राम कर रही हैं जिन्होंने भारत के लिए अपना सर्वस्व दे दिया।"

वास्तव में वे नोबल (महान्) थीं। नोबल के रूप में उन्होंने अपने जीवन का प्रारम्भ किया था और 'निवेदिता' बनकर वे चिरकाल के लिए सो गईं। भारतीय इतिहास में जीवन के ऐसे श्रेष्ठ निवेदन के उदाहरण दुर्लभ हैं।

—x—

तृष्णा की तिलांजलि

श्री संतोष कुमार झा

दैत्यों के गुरु ऋषि शुक्राचार्य की एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। ऋषि का अपनी पुत्री पर अगाध स्नेह था। वे उसकी सभी इच्छा पूरी करने का प्रयत्न किया करते। उसका नाम था देवयानी।

ऋषि शुक्राचार्य पराक्रमी दैत्यराज वृषपर्वा के आचार्य थे। राजा की सभा में उनका बहुत बड़ा स्थान था। आचार्य की आज्ञा का पालन करने के लिये सभी तत्पर रहा करते थे।

दैत्यराज वृषपर्वा की भी एक सुन्दरी कन्या थी। उसका नाम था शर्मिष्ठा। वह देवयानी की समवयस्का थी। राजपुत्री एवं आचार्य की पुत्री में पारस्परिक बड़ा स्नेह था। दोनों साथ साथ आचार्य से विद्या पढ़तीं। साथ साथ खेलतीं। वन - विहार जल - विहार आदि के लिये साथ साथ जातीं। शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति दोनों दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगीं।

एक दिन शर्मिष्ठा और देवयानी अपनी अन्य सखियों और दासियों के साथ वन के एक सरोवर में जल - विहार करने गई थीं। जब वे स्नान कर रही थीं तभी हवा के झोंकों के कारण तालाब के पार परे रखे उनके वस्त्र आपस

में मिल गये। जब वे नहाकर बाहर आईं तो भूल से शर्मिष्ठा ने देवयानी के कपड़े पहन लिये। देवयानी ने जैसे ही यह देखा, क्रोध से उसका शरीर जलने लगा। पुरुष अन्य किसी पुरुष के सौंदर्य को देखकर जहाँ प्रसन्न होता है, वहाँ नारी अन्य नारी के सौंदर्य को देखकर ईर्ष्या से जल उठती है।

देवयानी ने तीखे शब्दों में तिरस्कार पूर्वक शर्मिष्ठा से कहा—"शर्मिष्ठे! दैत्यकन्या होकर भी तेरा इतना साहस कि तूने ब्राह्मणकन्या के वस्त्र पहन लिये! क्या तुझे ज्ञात नहीं कि मैं उस शुक्राचार्य की पुत्री हूँ जिसकी आज्ञा पालन करने के लिये तेरा पिता सदैव तत्पर रहता है?"

इन मर्म-भेदी वाक्यों को सुनकर शर्मिष्ठा तिलमिला उठी—राजपुत्री होने का उसका अभिमान जाग उठा। शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर उसने कटु शब्दों में देवयानी से कहा—"अरी ब्राह्मणकन्या! तू यह क्यों भूल रही है कि तेरा पिता एक दरिद्र ब्राह्मण है, जो मेरे पिता दी गई भिक्षा पर ही जीता है तथा रातदिन मेरे पिता की स्तुति करते जिसकी जिह्वा नहीं थकती।"

देवयानी ने भी प्रतिकार किया। प्रतिकार से दैत्य-कन्या के स्वभाव का दैत्य जाग उठा। उसने क्रोध में भरकर देवयानी को पास ही के एक कुएँ में ढकेल दिया और अपने साथ की सभी दासियों आदिको चलने का आदेश देकर स्वयं चल पड़ी।

सौभाग्य से कुआँ सूखा था। देवयानी अचेत हो उस कुएँ में पड़ी रही। थोड़ी ही देर पश्चात् महाराज ययाति घोड़े पर सवार शिकार की खोज में उस ओर आ निकले। थकान तो थी ही। उन्हें प्यास भी लग रही थी। पास ही कुआँ देखकर वे घोड़े से उतर कुएँ की ओर चल पड़े। जाकर ज्योंही उन्होंने कुएँ के भीतर झाँका, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि कुआँ सूखा है किन्तु उसमें एक सुन्दरी अचेत-सी पड़ी है। राजा ने कुतूहल पूर्व होकर उसे पुकार। देवयानी की मूर्च्छा दूर हुई। उसने सिर उठा कर देखा। कुएँ के बाहर एक अपरिचित पुरुष को देखकर उसे भी आश्चर्य हुआ। उसने नम्रतापूर्वक उस अपरिचित पुरुष से प्रार्थना की—"आर्य! मुझे इस कुएँ से बाहर निकालिये। बाहर आकर मैं आपको बताऊँगी कि मैं इस कुएँ में कैसे गिरी।"

राजा ने सहारा देकर देवयानी को कुएँ से बाहर निकाला। देवयानी ने उस समय की प्रथा के अनुसार राजा को अपने वंश-गोत्र आदि का परिचय दिया। राजा ने भी देवयानी को अपना परिचय दिया।

अपना परिचय देकर देवयानी ने राजा से शर्मिष्ठा के साथ हुए अपने कलह की बात कही। राजा ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की और उसे उसके पिता शुक्राचार्य के आश्रम तक पहुँचा देने का आग्रह किया। किन्तु देवयानी ने कहा,—"महाराज, आप कष्ट न करें। मेरे पिता का आश्रम यहाँ से निकट ही है। मैं स्वयं चली जाऊँगी।"

राजा से विदा लेकर वह चल पड़ी। राजा भी घोड़े पर सवार होकर चल दिये।

देवयानी का हृदय दो विपरीत भावों के तरंगों में हिलोरें ले रहा था। एक ओर तो शर्मिष्ठा से प्रतिशोध लेने की ज्वाला धधक रही थी और दूसरी ओर तरुण राजा ययाति से परिचय की मधुर स्मृति हठात् आह्लाद प्रदान कर रही थी।

आश्रम आकर देवयानी ने, पिता से, शर्मिष्ठा द्वारा किये गये अपने अपमान की सारी घटना कह सुनाई और रोते हुए शुक्राचार्य से पूछा, "पिताजी, क्या यह सत्य है कि आप वृषपर्वा की दी हुई भिक्षा पर जीते हैं? क्या यह सत्य है कि आप भाटों की तरह शर्मिष्ठा के पिता की स्तुति करते हैं?"

पुत्री का विलाप और तीव्र कटु प्रश्न सुनकर ऋषि का शीत हृदय भी व्याकुल हो उठा। पुत्री के अपमान में ऋषि ने अपने स्वाभिमान की अवहेलना देखी। वे उसी समय चल पड़े दैत्यराज वृषपर्वा की राजसभा में। क्रोधित शुक्राचार्य के सभा में पहुँचते ही वहाँ भय और आतंक का राज्य छा गया। ऋषि ने कर्कश स्वर में राजा को सम्बोधित किया और कहा, "राजन्! तुम्हारी पुत्री शर्मिष्ठा ने देवयानी का अपमान किया है। इतना ही नहीं, उसने मेरी पुत्री को कुएँ में ढकेलकर उसकी हत्या करने का भी प्रयत्न किया था किन्तु प्रभु की कृपा से देवयानी सुरक्षित है। मैं तुम्हारे इस अत्याचारी राज्य में नहीं रहना चाहता। मैं

इसी समय तुम्हारे राज्य की सीमा से बाहर जा रहा हूँ।"

गुरु के क्रोध और अपने अनिष्ट की आशंका से वृषपर्वा काँप उठा। उसने अत्यन्त विनीत भाव से गुरु के चरणों में प्रणाम कर प्रार्थना की, "प्रभु! मैं अपनी पुत्री के दुर्व्य-वहार से बहुत लज्जित हूँ। आप उसके लिए जिस दण्ड का विधान करें मैं उसे वही दण्ड देने को प्रस्तुत हूँ।"

विनीत राजा की प्रार्थना पर ऋषि का क्रोध शांत हो गया। उन्होंने कहा, "इसका एक ही उपाय है। तुम जाकर मेरी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करो।"

वृषपर्वा तुरंत ही देवयानी के पास गया और उससे अपनी पुत्री के दुर्व्यवहारों के लिये क्षमा माँगी एवं प्रसन्न होने की प्रार्थना की।

देवयानी ने कहा, "राजा, मुझे प्रसन्नता तभी हो सकती है जब कि शर्मिष्ठा स्वयं एक हजार दासियों के साथ मेरा दासत्व स्वीकार कर मेरी सेवा करे और मैं जहाँ भी जाऊँ वह मेरे साथ जाये।"

वृषपर्वा ने गुरुपुत्री की शर्त स्वीकार कर उसे प्रसन्न किया। उसने अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को एक हजार दासियों के साथ देवयानी का दासत्व स्वीकार करने का आदेश दिया। शर्मिष्ठा ने भी पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर अपनी भूल स्वीकार करते हुए देवयानी का दासत्व ग्रहण कर लिया।

दिन बीतते गये। देवयानी की प्रतिशोध-भावना भी

शेष हो गई। अब शर्मिष्ठा दासी के साथ साथ पुनः उसकी सखी भी हो गई।

एक दिन देवयानी शर्मिष्ठा और अन्य दासियों के साथ वन-विहार करने गई थी। सभी तरुणियाँ वन में आनन्द-पूर्वक खेल रही थीं। देवयानी और शर्मिष्ठा एक सघन वृक्ष की छाया में बैठ कर वार्तालाप कर रही थीं। उसी समय उनके कानों में घोड़े की टापें सुनाई पड़ीं। थोड़ी ही देर में दोनों ने देखा एक अत्यन्त आकर्षक पुरुष घोड़े पर सवार उसी ओर आ रहा है। वेशभूषा से वह कोई क्षत्रिय राजा प्रतीत हो रहा था। युवक के पास आते ही देवयानी ने उसे पहचान लिया। चलचित्र के चित्रों की भाँति भूतकाल की सभी घटनाएँ देवयानी के मानसपटल पर उभर उठीं। उसके अंतःकरण से एक मधुर ध्वनि उठी—'अरे! वे तो महाराज ययाति हैं। मेरे हृदयेश्वर!' और लज्जा से उसके कपोल रक्तिम हो उठे।

शर्मिष्ठा ने भी ऐसा सुन्दर और आकर्षक युवक इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। उसका नारीहृदय भी राजा के भव्य व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हुए बिना रह न सका। क्षण भर के लिये वह भूल गई कि वह अब एक दासी है, राज-पुत्री नहीं। अब उसे यह अधिकार नहीं कि वह विवाह करके देवयानी को छोड़कर अपने पति के घर जाय। तभी उसकी तन्द्रा टूटी। उसके ही अंतःकरण से यह करुण स्वर आया—शर्मिष्ठा! अब तू दासी है, राज-पुत्री नहीं! तुझे विवाह करने का अधिकार नहीं है। तू

अपनी स्वामिनी देवयानी के साथ जहाँ भी वह जाये जाने को वचनबद्ध है। सुखद कल्पना का शीतल हिम, कठोर वास्तविकता के तीव्र दाह में विगलित हो गया। शर्मिष्ठा की आँखें सजल हो उठीं।

तभी राजा ययाति के मधुर किन्तु गंभीर स्वर ने इन दोनों के भावस्वप्न को भंग कर दिया। राजा ने पूछा, "देवियों, आप लोग कौन हैं ? कृपया अपने कुल गोत्र का परिचय दीजिये।"

देवयानी ने आह्लादपूर्ण स्वर में अपना परिचय दिया। शर्मिष्ठा का परिचय देते हुए उसने कहा, "यह है शर्मिष्ठा, मेरी दासी-सखी। मैं जहाँ भी जाऊँगी यह भी मेरे साथ जाने को वचनबद्ध है।" शर्मिष्ठा भावशून्य शिलाखंड की भाँति खड़ी थी।

देवयानी ने राजा को उस घटना का स्मरण दिलाया जबकि उन्होंने उसे हाथ का सहारा देकर कुएँ से बाहर निकाला था। साथ ही लज्जित स्वर में उसने राजा के प्रति अपने समर्पण की भी बात कह दी।

राजा ने कहा, देवि ! तुम ऋषिप्रवर शुक्राचार्य की कन्या हो; उनकी आज्ञा के बिना मैं तुम्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?"

देवयानी ने निवेदन किया, "महाराज ! आप मेरे पिता के पास चलिये। मैं स्वयं उनसे अपना मंतव्य व्यक्त करूँगी।"

राजा ने स्वीकृति दे दी।

शुक्राचार्य अपनी पर्णकुटी के पास ही एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को निरख रहे थे। प्रकृति का सौंदर्य देखते - देखते उनका मन उस सौंदर्य के रचयिता परमसुन्दर प्रभु के ध्यान में लीन हो रहा था। उसी समय महाराज ययाति ने अत्यन्त विनय-पूर्वक ऋषि के चरणों में प्रणाम किया। ऋषि का ध्यान टूटा। अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में उन्होंने राजा को आशीर्वाद दिया। सकुचाती-सी देवयानी ने भी आकर पिता को प्रणाम किया। पुत्री को प्रणाम करते देख ऋषि ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। संकोच और लज्जा में गड़ी-सी देवयानी ने कहा, "तात ! मैंने महाराज ययाति को पतिरूप में वरण कर लिया है। आप हमें विवाह की अनुमति दें।"

वृद्ध ऋषि की आँखों में स्नेहाश्रु छलछला उठे। देवयानी के शिर पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुए उन्होंने राजा के साथ उसके विवाह की अनुमति दे दी।

शर्मिष्ठा शिलाखंड की भाँति निश्चल स्थिर खड़ी यह सब दृश्य देख रही थी। हठात् ऋषि शुक्राचार्य की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्हें स्मरण हो आया कि शर्मिष्ठा भी देव-यानी के साथ उसकी ससुराल जायेगी। उनके अंतःकरण में भविष्य की एक आशंका उठी। मन ही मन उन्होंने कुछ निश्चय किया। वे राजा की ओर मुड़े और गंभीर स्वर में राजा से कहा, "राजन्। शर्मिष्ठा देवयानी की दासी है। वह भी उसके साथ तुम्हारे राजमहल में जायेगी। वचन

दो कि तुम उसके कौमार्य की सतत रक्षा करोगे और कभी भी उसकी ओर आकृष्ट नहीं होगे।"

राजा ने स्वीकृति में प्रणाम किया। शर्मिष्ठा के अंतःकरण में पत्थर की एक रेखा और खिंच गई।

उस पावन वनस्थली में देवयानी और ययाति का विवाह सानन्द संपन्न हुआ। देवयानी को लेकर महाराज ययाति का रथ चल पड़ा। निर्मोही ऋषि की आँखों से भी पुत्री का स्नेह अश्रुरूप में बह चला। देवयानी के हृदय में भी, प्रणय का मधुर आनन्द तो था किन्तु नेत्रों से पितृवियोग का दुख मानों विगलित होकर बह रहा था। सभी सखी-सहेलियाँ, प्रेमी और आत्मीय जन अपनी प्रिय देवयानी को विदा करने आये। शर्मिष्ठा जड़वत् भावशून्य होकर यह सब दृश्य देखती रही। वह यंत्रवत् अपनी स्वामिनी महारानी देवयानी के साथ चल पड़ी।

राजा देवयानी के साथ राजधानी को लौटे। नगर में कई दिनों तक उत्सव का अयोजन होता रहा। सारा राजमहल मानों आनंद के सागर में हिलोरें ले रहा था। राजा देवयानी को पाकर सब कुछ भूल चुके थे। कब सुबह हुई, कब संध्या आई इसका भी उन्हें भान न होता था। स्वस्थ तरुण शरीर, अपार धन और वायु की तरह स्वतंत्रता इन में से एक भी मनुष्य को इन्द्रियलोलुप बनाकर उसके पतन का कारण होता है। फिर ययाति को तो सभी सुविधाएँ एक साथ प्राप्त थीं। राजा की भोगलिप्सा ग्रीषम ऋतु में सूखे बाँस के जंगल में लगी आग के समान निरंतर बढ़ती ही गई।

राजा ने शर्मिष्ठा के रहने आदि का भी उत्तम प्रबन्ध कर दिया था। वह राजमहल से दूर एक सुन्दर बाटिका में रहा करती थीं। उसकी सुख-सुविधाओं की समुचित व्यवस्था कर दी गई थी। राजा यदा-कदा देवयानी के साथ इस बाटिका में भी आ जाया करते। तभी देवयानी शर्मिष्ठा से कुछ बातें कर लिया करती। किन्तु अब उसे शर्मिष्ठा से अधिक मिलने का अवसर न मिल पाता। शर्मिष्ठा को भी उसने छूट दे दी थी। अब शर्मिष्ठा को देवयानी की सेवा-टहल से मुक्ति मिल गई थी। वह दासी अवश्य थी किन्तु अब उसे दासी का कार्य नहीं करना पड़ता था।

जब कभी देवयानी राजा के साथ शर्मिष्ठा की बाटिका में आती, तो शर्मिष्ठा का हृदय ईर्ष्या से जल उठता। वह मन ही मन कुछ सोचकर चुप रह जाती। भीतर से उसका नारी हृदय उसे शांत न रहने देता। ईर्ष्या और प्रतिहिंसा उसे व्याकुल कर देती। इसी व्याकुलता में एक दिन मन ही मन उसने कुछ कठोर निश्चय कर लिया। उसकी भौंहें चढ़ गईं और भविष्य के षड़यंत्र को सफल करने के निश्चय से वह उठ खड़ी हुई।

एक दिन सायंकाल शर्मिष्ठा अकेले ही उपवन में टहल रही थी। वसंत के वृक्ष की भाँति उसने सोलहों शृंगार कर रखा था। तभी अचानक राजा ययाति भी उस ओर अकेले ही निकल पड़े। साँझ ढल रही थी सारा वातावरण रक्तिम

हो उठा था। शर्मिष्ठा का सौंदर्य ढलती सूरज की किरणों में और भी निखर उठा। दूर से ही राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। हठात् उनके पग रुक गये। अपलक दृष्टि से वे शर्मिष्ठा की ओर देख रहे थे। उसने भी राजा की ओर देखा। पहली ही दृष्टि में उसे अपनी विजय का आभास मिल गया। अपना मनोगत निश्चय उसे साकार होता-सा प्रतीत हुआ। पुरुष की कठोरता में सन्निहित दुर्बलता को नारी खूब जानती है। अवसर आते ही वह पुरुष के इस मर्मस्थल पर प्रहार कर उसे अपने आधीन कर लेती है। पुरुष अपनी शक्ति के मद में दुर्बलता को भूल जाता है। तभी तो विश्वविजयी सम्राटों और महापराक्रमी योद्धाओं को भी इतिहास ने नारी का दासत्व करते देखा है।

शर्मिष्ठा अलसाई-सी आगे बढ़ी। उसने नम्रतापूर्वक राजा का अभिवादन किया। राजा अपलक नयनों से उसे निहारते रहे। तभी शर्मिष्ठा ने राजा से वाटिका के भीतर चलने का आग्रह किया। राजा की तन्द्रा टूटी। वर्षा की अमावस्य रात्रि में बिजली की भाँति क्षण भर के लिए राजा की बुद्धि में विवेक की ज्योति कौंध उठी। उन्होंने सकुचाते हुए कहा, "शर्मिष्ठा ! यहाँ एकांत में संध्या समय अकेली कैसे ?"

शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया, "महाराज ! आपकी प्रतीक्षा में ! महारानी देवयानी की दासी आपकी भी तो दासी है। दासी पर आपका पूर्ण अधिकार है।

राजा के मन में एक भीषण झंझावात उठ पड़ा। उनका

विवेक डगमगाने लगा। ज्ञान मूर्छित होने लगा। वासना के अनंत द्वार हैं। न जाने कब कहाँ किस द्वार से प्रविष्ट होकर वह व्यक्ति को पथभ्रष्ट करदे। बुद्धिवादियों के पास वह तर्क का सहारा लेकर "उदार नैतिकता" के रूप में आती है। धर्म भीरुओं के पास वह धार्मिक रूढ़ि और धार्मिक कर्तव्य के रूप में आती है। राजा के मन ने भी तर्क दिया—शर्मिष्ठा राजपुत्री है; फिर वह मेरी पत्नी की सखी और दासी भी तो है; पत्नी की दासी पर भी तो मेरा पत्नी की तरह ही अधिकार है। क्षण भर के लिये विवेक भी जागा। राजा के अंतर से एक क्षीण ध्वनि आई—"शर्मिष्ठा पराई कन्या है ! तुमने उसके कौमार्य की रक्षा का वचन दिया है। वचनभंग करने पर ऋषि के क्रोध में तुम्हारा सर्वस्व भस्म हो जायेगा।"

तभी शर्मिष्ठा ने राजा का हाथ पकड़कर एकांत उद्यान में चलने का आग्रह किया। वासना के प्रबल प्रहार से ज्ञान का कवच टूट गया। विवेक मर गया। पुरुष की कठोरता नारी की कमनीयता से पराजित हो गई। राजा ययाति का शुक्राचार्य को दिया हुआ वचन और शर्मिष्ठा का कौमार्य साथ साथ भंग हो गये।

भोग का विषवृक्ष विश्वासघात की धरती पर ही पनपता है। जब पुरुष की वासना बलवती होती है तब उसकी धूर्तता भी सक्रिय हो उठती है। दाम्पत्य जीवन के पारस्परिक विश्वास और आस्था की जड़ों में छल छद्म का मट्ठा पड़ जाता है। ययाति की भी यही स्थिति हुई।

संयम का बाँध टूटते ही वासना की धारा सहस्र-मुखों से प्रवाहित होने लगती है। फिर उसे रोकना असंभव-सा हो जाता है। शर्मिष्ठा के संपर्क ने ययाति की वासनाग्नि में घृताहुति दे दी। राजा की तृष्णा सागरगामिनी नदी की भाँति बढ़ती ही गई। दासी शर्मिष्ठा राजा ययाति की स्वामिनी बन चुकी थी।

अबोध देवयानी पति के कपटपूर्ण प्रेम में अपने आपको भूलकर पतिसेवा में रत थी। उसे फूल जैसे सुकुमार दो पुत्र भी प्राप्त हो चुके थे।

एक दिन देवयानी घूमते-घूमते अपने पति के साथ उस वाटिका में पहुँची जहाँ शर्मिष्ठा रहती थी। वहाँ उसने अपने ही बच्चों की भाँति तीन और सुकुमार बच्चों को देखा। आश्चर्य और कौतूहल से उन बच्चों की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए सरलतापूर्वक पूछा, "महाराज! ये तीनों मनोहर बालक कौन हैं?"

राजा का मुख स्याह हो गया। आँखें भूमि में गड़ गईं। अपराध उनके मुख से टपकने लगा। इस समय पास की झाड़ी से निकलकर दंभ और व्यंग-पूर्ण स्वर में शर्मिष्ठा ने कहा,—'महारानी! महाराज ययाति की कृपा से ही मुझे ये तीनों पुत्र प्राप्त हुए हैं। आपके कुमारों की तरह ये भी राजपुत्र हैं।"

देवयानी पर मानो वज्रपात हो गया। क्षणभर के लिये वह मूर्छित-सी हो गई। पति के विश्वासघात और शर्मिष्ठा के प्रतिशोध ने देवयानी के जीवनकानन में आग लगा दी।

दुख और क्रोध की ज्वाला में जलती देवयानी पितृगृह की ओर चल पड़ी।

देवयानी के विवाह के पश्चात् ऋषि शुक्राचार्य चितन-मनन में शांतिपूर्वक अपना समय बिता रहे थे। सांसारिक दायित्वों और चिन्ताओं से वे मुक्त हो गये थे।

तभी एक दिन अचानक उनकी शांति भंग हो गई। घायल हिरणी-सी विकल देवयानी आश्रम में पहुँची। पिता से लिपट कर खूब जी भरकर रोई। ऋषि ने भी उसके हृदय को शांत होने दिया। मन हलका होने पर देवयानी ने पिता से पति द्वारा किये गये विश्वासघात की बात कही। तपःपूत शांत ऋषिहृदय भी कुछ क्षणों के लिये अशांत हो उठा। ऋषि ने निश्चय किया कि वे ययाति को अवश्य उसके विश्वासघात का दण्ड देंगे।

मनुष्य के मन में भावी विपत्ति की आशंका घुसते ही वर्तमान की सुख-सुविधाएँ भी उसे दुःख और दुर्दिन प्रतीत होने लगती हैं। देवयानी के अपने पिता के घर चले जाने के पश्चात् राजा की आँखें खुलीं। ऋषि के क्रोध और उसके परिणाम स्वरूप होने वाली दुर्दशा की आशंका से उनका हृदय व्याकुल हो उठा। सारे राज भोग उन्हें विषवत् लगने लगे। फूलों की कोमल शैया काँटों की तरह गड़ने लगी। राजा की आँखों की नींद न जाने कहाँ चली गई। अन्त में राजा ने निश्चय किया कि इस दाह से त्राण पाने का एक ही उपाय है—और वह है ऋषि शुक्राचार्य के चरणों में मस्तक रखकर क्षमा याचना।

राजा ऋषि से क्षमा माँगने चल पड़े। भय और भावी आशंका से उनके प्राण काँप रहे थे। अभी राजा दूर ही थे कि उनपर ऋषि की दृष्टि पड़ गई। पुत्री की व्यथा से व्यथित ऋषि का हृदय क्रोध से भर गया। भयभीत राजा ने आकर उनके चरणों में प्रणाम किया। आशीर्वाद देने की अभ्यस्त जिह्वा से आज आशीर्वचन न निकल सके। ऋषि का क्रोध प्रतिशोध में बदल गया, उनके मुख से शाप के कटु शब्द निकले—"मूर्ख! जिस तारुण्य के उन्माद में तूने देवयानी के साथ विश्वासघात किया है, ले मैं उसे ही नष्ट किये देता हूँ। जा, तू तुरंत वृद्ध हो जा!"

सत्यनिष्ठ ऋषि के शब्द कभी असफल नहीं होते। राजा का तारुण्य क्षण मात्र में लुप्त हो गया।

राजा को ऐसे कठोर और असहनीय दण्ड की आशा न थी। शाप से उनपर मानों वज्रपात ही हो गया। उन्होंने अत्यन्त व्याकुल होकर ऋषि से दया की भीख माँगी और कहा, "प्रभु, दया कीजिये! मुझसे वृद्धावस्था का यह दुख सहा नहीं जायेगा। अभी मेरे मन से भोग की इच्छा गई नहीं है। अभी मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ। वृद्धावस्था के कष्टों से मुझे उतना दुख नहीं हो रहा है जितना कि भोग न कर सकने की कल्पना से हो रहा है।"

देवयानी को भी पति के लिये इतने कठोर दण्ड विधान की धारणा न थी। उसका अंतर्मन भी इतने कठोर दण्ड के लिए प्रस्तुत न था। पति को मिले दण्ड में यह भी तो

सहभागिनी थी। पति के दण्ड की पीड़ा का उसे भी तो अनुभव करना पड़ता।

जल में खिंची रेखा के समान थोड़ी ही देर में ऋषि का क्रोध मिट गया। उनके मन में करुणा जागी। उन्होंने देवयानी की ओर आँखें उठाकर देखा। वृद्ध ऋषि को तरुणी देवयानी के मनोभाव समझने में देर न लगी।

पुत्री का प्रेम और राजा की विनय के कारण ऋषि ने उदारतापूर्वक शापमोचन की व्यवस्था दे दी। उन्होंने कहा, "राजन्! मेरे शब्द व्यर्थ नहीं जा सकते। तुम्हारी वृद्धावस्था का दुख किसी न किसी को तो भोगना ही पड़ेगा। एक उपाय अवश्य है। यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से तुम्हें अपना यौवन दे दे और तुम्हारा बुढ़ापा ले ले, तो तुम मेरे शाप से मुक्त हो सकते हो।"

ऋषि का आशिर्वाद ले राजा वहाँ से चल पड़े। देवयानी का क्रोध भी शांत हो चुका था। उसने भी पति का अनुगमन किया। राजधानी में आकर राजाने देवयानी और शर्मिष्ठा से प्राप्त अपने पाँचों पुत्रों को बुलाया और उनसे अपना यौवन देकर उसका (राजा का) बुढ़ापा ले लेने की बात कही। चार पुत्रों ने बुढ़ापा लेने से नाही कर दी। किन्तु राजा के छोटे पुत्र पुरु का हृदय ज्ञान के प्रकाश से अलोकित था। उसे यह अनुभूति हो गई थी कि युवावस्था के सुख-भोग क्षणिक और अन्त में दुखदाई हैं। उसने देख लिया था कि युवावस्था में उद्दामइन्द्रियाँ बलपूर्वक मनुष्य को अशुभ कर्मों में प्रवृत्त कर देती हैं। पुरु ने सोचा कि बिना इन्द्रियलोलुप और भोगी हुए ही यदि

मुझे बुढ़ापा मिल जाये, तो मैं बहुत से दुष्कर्मों से अनायास ही बच जाऊँगा।

उसने सहर्ष पिता को अपना यौवन देकर उनका बुढ़ापा ले लिया।

पुत्र से यौवन प्राप्त कर राजा ययाति पुनः एक बार भोग की मृग-मरीचिका में खो गये। महाभारत के अनुसार राजा ने पुनः एक सहस्र वर्षों तक सभी प्रकार के इन्द्रिय-सुखों का यथेष्ट भोग किया। किन्तु हाय री भोग लिप्सा ! तू अभी भी शांत न हुई !

इन्द्रियलोलुप होकर भोगतृप्ति में फँस जाने पर भोगी के वर्ष और महीने घटी और पल की भाँति शीघ्र ही बीतते प्रतीत होते हैं। ययाति के लम्बे सहस्र वर्ष भी भोग की लिप्सा में 'शीघ्र' ही बीत गये किन्तु राजा की भोगलिप्सा शांत न हुई। वह तो सूखी घास में लगी आग के समान निरंतर बढ़ती ही गई।

अतिभोग भी कभी कभी वैराग्य का जन्मदाता बन जाता है। ययाति के जीवन में भी यही हुआ। अति भोग के कारण राजा भोग के स्वभाव से पूर्णतः परिचित हो गये। उन्होंने भोग की सारहीनता का अनुभव कर लिया। यह देख लिया कि भोगों की तृप्ति असंभव है। भोग की निस्सारता के साथ साथ त्याग की महत्ता की अनुभूति भी राजा को हो चुकी थी। राजा भोगों से विरत हो गये।

उन्होंने अपने प्रिय पुत्र पुरु को बुलाया और जिस उत्साह से एक सहस्र वर्ष पूर्व उसका यौवन लिया था,

उससे द्विगुणित उत्साहपूर्वक उसका वह यौवन उसे लौटा कर अपना बुढ़ापा वापस ले लिया।

पुत्र का यौवन लौटाते समय ययाति ने उसे अपना जो अनुभव बताया है वह आज भी मानव मात्र के लिये सूर्य की भाँति प्रकाशदाता और पथ-प्रदर्शक है। राजा कहते हैं—"बेटा! मैंने तुम्हारा यौवन लेकर इच्छानुसार अपने प्रिय भोगों का भोग किया किन्तु उससे मुझे तृप्ति नहीं हुई। अब मुझे निश्चय हो गया है कि कामनाओं का उपशम उनके भोग से नहीं होता, प्रत्युत जैसे घी डालने पर अग्नि और भी प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार कामनाएँ भी उपभोग से क्षीण होने की बजाय तीव्र और प्रबल हो जानी हैं। पृथ्वी का सारा अनाज, समस्त सोना, सारे हीरे-मोती आदि बहुमूल्यवान पदार्थ, सम्पूर्ण पशुधन और सारी स्त्रियाँ एक व्यक्ति की कामना पूर्ण करने के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए तृष्णा का त्याग करना चाहिए। यह तृष्णा एक प्राणान्तक रोग है। मनुष्य भले ही जीर्ण हो जाय, पर वह जीर्ण नहीं होती। दुर्गतियों के लिए इसका त्याग बड़ा कठिन है। पर यदि जीवन में सुख चाहिए, तो इस तृष्णा का त्याग करना ही पड़ेगा।"

—x—

जिसका मन पवित्र होता है, उसे सब कुछ पवित्र दिखाई पड़ता है।

— माँ सारदा

जीवन की पूर्णता में नारी का स्थान

प्राध्यापिका श्रीमती स्नेहलता तिवारी

'जीवन' और 'मरण' इन दो शब्दों ने मनीषियों के मानस को उतना ही मथा है जितना 'आत्मा' और 'परमात्मा' इन दो शब्दों ने। जीवन क्या है? इसे बहुत जानने पर भी नहीं जाना जा सकता, इसीलिए तो जीवन की व्याख्या विभिन्न प्रकारों से की गई है। उपनिषद् में ऋषि कहते हैं:—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्,
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।"

अर्थात् "आनन्द ब्रह्म है, यह जानो (क्योंकि) आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने पर वे आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं। "निष्कर्ष निकालें तो यही कहना होगा कि जीवन भी आनन्द ही है। इसके विपरीत, भगवान् बुद्ध का कहना है कि 'जीवन दुःख का पर्यायवाची है', जीवन धारण कर मनुष्य जो कुछ भी प्राप्त करता है सबका पर्यवसान दुख में होता है। इसके भी विपरीत, गीता और स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'जीवन

कर्म है, या कर्म ही जीवन है और निष्क्रियता मरण है' कर्म के मूलमंत्र को स्वीकार कर, सक्रियता और सचेष्टता के द्वारा ही हम जीवन में पूर्णत्व की प्राप्ति कर सकते हैं। चन्द्रमा की पूर्णता पूनम बनकर जिसप्रकार अपने वक्षस्थल पर संघर्षों के घाव लिए हुए भी सृष्टि को अमल-धवल शीतल ज्योत्सना प्रदान करती है, उसी प्रकार पूर्णता को प्राप्त हुआ जीवन लोक के लिए मंगलकारी हुआ करता है जीवन के ऐसे ही प्रश्न को एक जिज्ञासु कवि ने पुरवाई के झोंकों से पूछा—

पुरवाई का झोंका आया
नील गगन पर दुनिया का चन्दा मुसकाया,
मैंने पूछा—"जीवन क्या है ?"
हँसकर बोला—"पूनम के क्षण आना बतलाऊँगा।
वक्षस्थल पर संघर्षों के घाव पड़े होंगे
सब दिखलाऊँगा।
संघर्षों के घाव सदा उजले होते हैं
यश औ कीर्ति सौंपते हैं जीवन को।"
"पर प्रिय ! तुम तो दुतिया को भी पूजे जाते हो ?"
"दुतिया, जीवन के पथ पर मेरा वह अडिग चरण है जो अति दृढ़ है।
अडिग चरण मंजिल को पास बुला लाते हैं,
इसीलिए पूजे जाते हैं।
जीवन वह संघर्ष, चाँदनी हो जिससे
प्रस्फुटित ज्योति अपनी फैलाती।"

डा० देवराज दिनेश की इन्हीं पंक्तियों का समर्थन करती है डा० रामनाथ सुमन की यह पंक्ति कि "जीवन एक यज्ञ है—एक यज्ञ जिसकी अग्नि सदैव प्रदीप्त, सदैव प्रकाशित रहनी चाहिये।" महात्मा गाँधी के अनुसार तो "जीवन एक कला है, वह समस्त कलाओं में श्रेष्ठ है। जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है।" जीवन यदि कर्म या संघर्ष है, यज्ञ या कला है, तो उस कर्म, यज्ञ और कला का उद्देश्य सत्य, शिव और सुन्दर के प्रच्छन्न रहस्यों की अनुभूति और अभिव्यक्ति है। 'सत्य' शब्द के अंतर्गत मनुष्य का जीवन-दर्शन, उसका चिन्तन और उसका वह स्वरूप आता है जो शाश्वत और अतार्किक है। 'शिव' के अंतर्गत उसके जीवन का वह अंश आता है जिसमें वह निष्काम कर्म करके लोककल्याण का आयोजन करता है, अर्थात् वह उसके जीवन का व्यावहारिक पक्ष है, और 'सुन्दर' के अंतर्गत उसके हृदय का अमल-धवल-कोमल वैभव, मनोहारी कल्पनाएँ, साकार स्वरूप धारणकर, कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं। जीवन की पूर्णता की बात जब हम करते हैं तो उससे यह स्पष्ट होता है कि जो जीवन सत्य, शिव और सुन्दर से समुचित रूप से समन्वित और संतुलित है, वह पूर्ण होगा ही।

विराट् सृष्टि को नाना रूपों से समन्वित और संतुलित रखने के लिए, उसे पूर्णता प्रदान करने के लिए ईश्वर ने नारी और पुरुष का सृजन किया। संसार में कठोर कर्म

की इच्छा पूर्ति सम्भवतः वह पुरुष के माध्यम से करता है और उसके हृदय का कलात्मक कोमल-अमल वैभव मानो नारी के व्यक्तित्व में साकार होता है। कभी कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर ने दोनों का मात्र सृजन करके ही उन्हें विराट् सृष्टि के बीच खड़ा कर दिया और स्वयं मानो तटस्थ होकर यह देखने लगा कि अपनी सारी सर्जना अगर मैं इनके हाथों सौंप दूँ तो ये उसे कैसा रूप देंगे, किस ओर ले जायेंगे ?

जीवन की पूर्णता की परिभाषा पहले इतनी जटिल न थी। मानव-मस्तिष्क जैसे जैसे विकसित और परिष्कृत होता गया, पूर्णता का पैमाना भी वैसे ही विकसित और विस्तृत होता गया। मानव-संस्कृति के इतिहास में सबसे पहला समय वह था जब मनुष्य का शारीरिक बल बुलंदी पर था। उसके पश्चात् एक समय ऐसा आया जब उसकी समस्त शक्तियाँ आत्मिक विकास की ओर केन्द्रित हो गईं। सम्पूर्ण बहिर्जगत् को उसने माया और मिथ्या कहकर बहिष्कृत किया और आत्मिक बल लेकर खूब उठा—इतना ऊँचा कि धरा धाम छूट गये; किन्तु जीवन का यथार्थ, जटिल बनकर, कड़ाई से उसकी आँचल थामे रहा, और सम्पूर्ण शक्ति को स्वयं में केन्द्रित कर उसने उसे धीरे-धीरे खींच लिया। मनुष्य ने पलटकर देखा कि उसका भौतिक पक्ष मुँह बाये खड़ा है; वह त्रस्त है, व्यस्त है, संतप्त है। बस, फिर क्या था, समस्त शक्तियाँ इस ओर केन्द्रित हो गईं। बुद्धि ने सुझाना

आरंभ किया और हाथों ने तत्परता से कर्मयुत होने का प्रमाण दिया। उसकी आत्मा और आत्मा से संलग्न अमल कोमल हृदय उपेक्षित और बहिष्कृत हो चला। आकुल हो आत्मा की उज्ज्वल अँगुलियों ने उसे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए इंगित भी किया, हारे हृदय ने हल्की-सी आवाज भी लगाई, पर भौतिक उन्नति के उन्माद में मनुष्य ने अनसुनी कर दी। कभी उत्तर दिया भी तो यही कहा—"देखते नहीं, मीलों बंजर पड़ी भूमि को उर्वर बनाना है। और ये इतनी बड़ी बड़ी मशीनें क्या तुम्हें नहीं दिखाई देतीं ? सब लगानी है ! और देखो न इस मनचली नदिया के जल को, वर्षा में आसपास के सब गाँव उजाड़ जाता है, इसे भी तो बाँधना है; और··· और भी देखो ये जाने किन नारकीय रोगों से त्रस्त प्राणी हैं, इनकी सेवा, उपचार सब तो करना है। मुझे समय नहीं है थोड़ा सा भी नहीं कि मैं तुम्हारी बात सुनूँ।" धीरे धीरे, जानते हैं, क्या हुआ ? इस कर्मकठोर पुरुष का हृदय और अछूती आत्मा सदैव के लिए सो गई और उधर उसने भौतिक क्षेत्र में सुख-सुविधाओं का खूबसा साज-सामान जुटा लिया—नये नये कल कारखाने, बड़े बड़े विशाल बाँध, मोटर, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीविज़न; और अब चाँद तथा अन्य नक्षत्रों तक पहुँचने की तैयारी किये वह बैठा है। विकास की दिशा में जैसे जैसे वह अग्रसर हुआ, प्रतिस्पर्धा भी उतनी ही बढ़ती गई और प्रतिस्पर्धा की भावना आते ही चढ़ाई और लड़ाई होने लगी। अब पुरुष

की सारी शक्ति केंद्रित हो गई इस दिशा में कि किस प्रकार वह अपने प्रतिस्पर्धी का दमन करे। बुद्धि की दौड़ और तेज हुई, हाथ और अधिक तत्पर हुए। बड़े बड़े बम बने, हाइड्रोजन बम और अब अणु बम भी बन गए। आत्मा की तटस्थता और बुद्धि की सुषुप्तावस्था ने कोई हस्तक्षेप न किया और नागासाकी तथा हिरोशिमा का सम्पूर्ण जीवन क्षण भर में श्मशान में परिवर्तित हो गया। पुरुष अपने इस चमत्कारिक बौद्धिक वैभव पर और उसकी विजय पर अट्टहास कर उठा। उन्माद के शमित होते ही स्वयं का अट्टहास ही उसे भस्मासुर का भयानक गर्जन प्रतीत होने लगा। हजारों वर्षों की बौद्धिक साधना से उसने जिसे सजाया और सँवारा, उसे वह स्वयं ही मिटाने लगा। उन्माद के बाद की स्थिति होती है विक्षिप्तावस्था की। पुरुष का इस स्थिति को प्राप्त होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसके बौद्धिक ऐश्वर्य के परिणाम स्वरूप केवल हिरोशिमा और नागासाकी ही श्मशान न हुए बल्कि यदि नये युग का इतिहास लिखा जाये तो उसमें विनाश की, और विनाश के विचार की एक लम्बी श्रृंखला मिलेगी।

ईश्वर ने अब तक तो तटस्थ होकर देखा सृष्टि के एक रूप को और यह जान लिया कि वह संसार को किस दिशा में ले जायेगा। दूसरे रूप पर उसकी दृष्टि नहीं थी। देव का देवत्व भी जब यह सब देख त्रस्त हो गया तो स्वभावतः दृष्टि दूसरी ओर गई। उसने देखा तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसके होठों पर एक हल्की

स्मितरेखा खेल गई। उसने सोचा—"मैंने तो इसे पुरुष की तुलना में बहुत ही कोमल और दुर्बल निर्मित किया था किन्तु किसी भी प्रकार का श्रम करने में वह पुरुष से पीछे नहीं, वरन् एक पग आगे ही है अपने हृदय की ममता और आत्मा की पावनता में।" जन जीवन में पूर्णता भरने और पुरुष के व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करने के लिए उसने पुरुष को नारी के हाथों में सौंप दिया। इसी सत्य का अनुभव कर एक स्थान पर डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है:—

"When the sky is overcast with clouds, the path of the future lies through a thick forest, and we are utterly alone in darkness without a single ray of light, when all around are difficulties, we place ourselves in the hands of a loving woman."

—अर्थात्, जब गगन मेघों से आच्छादित हो और भविष्य का पथ सघन वन के मध्य से जाता हो, अंधकार ऐसा घना हो कि आलोक की एक किरण भी न दिखाई दे और हम नितान्त एकाकी चारों ओर कठिनाइयों से घिरे हुए हों, तब हम स्वयं को एक स्नेहमयी नारी के हाथों में सौंप देते हैं।

अपनी चेतना की सजगता और हृदय में सद्भावनाओं की सम्पन्नता के कारण ही वह (नारी) जीवन की पूरक शक्ति है। कोरे बौद्धिक विकास से उत्पन्न भौतिक सुखों ने

जन-जीवन के अन्तर्मन को नितांत असंतुष्ट और अतृप्त कर अभावों से भर दिया है। तब नारी आगे बढ़ती है और समस्त अभावों की पूर्ति कर देती है।

हमारी संस्कृति के इतिहास में एक समय ऐसा भी है जब इस प्रश्न पर विचार करने का न तो औचित्य था और न अवकाश ही। स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में नारी और पुरुष के समन्वित रूप का नाम ही जीवन की पूर्णता था। विरोध और पार्थक्य कहीं नहीं था। पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी आश्रमों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं, पवित्र यज्ञ-कर्मादि में भाग लेती थीं और अपना सर्वाङ्गीण विकास करती थीं। समय सदा समान नहीं रहता। संस्कृति के इतिहास में ऐसा समय भी आया जिसके परिणामस्वरूप आज हम अपनी अर्धाङ्गी के पूर्ण अस्तित्व पर संदेह करने लगे हैं और यह प्रश्न उठाने लगे हैं कि जीवन की पूर्णता में नारी का स्थान कहीं है भी अथवा नहीं? प्रबुद्ध भारत के प्रतिनिधि को उत्तर देते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "पिछली कई सदियों में भारत की राजनितिक और सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि स्त्रियों को विशेष संरक्षण की आवश्यकता थी। भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा का मूलभूत कारण हमारी स्त्री-जाति की हीनता नहीं प्रत्युत देश की उपर्युक्त स्थिति ही है।"

जनजीवन के इस जागृति-काल में नारी पुनः आत्म-बल संचित कर सजग हो गई है। सीता और सावित्री के आदर्श फिर उसके जीवनपथ को आलोकित करने लगे हैं।

आप पूछेंगे कि फिर क्यों जीवन की पूर्णता में नारी के स्थान का प्रश्न उठता है ? उत्तर में हम आपको पाश्चात्य संस्कृति से बेढंगे रूप से प्रभावित कुछ प्रतिमाएँ दिखा देंगे, जो परिमाण में भले कम हों किन्तु परिणाम में पर्याप्त अंतर ला सकती हैं। इसीलिए हम अपने चिर-परिचित नारीजीवन के आदर्श और अस्तित्व को, जो निश्चय ही अपूर्ण जीवन की पूर्णता का सम्बल था, संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं। मैं यह कदापि नहीं कहना चाहती कि पश्चिम की हर बात बुरी है और हमारे लिए त्याज्य है। हम भारतवासी दुनिया की हर अच्छी बात को आत्मसात् करने के लिए आगे रहे हैं। किन्तु किसी भी बात का अन्धानुकरण सदैव घातक हुआ करता है। यह बात पश्चिम के समर्थन की ही है कि एक ओर मनुष्य का दानवी स्वरूप हिरोशिमा और नागासाकी पर आग उगलता रहा और दूसरी ओर दैवी दिव्यता लेकर फ्लारेंस नाइटिंगेल उस आग में झुलसी देहों को ममता के हाथों से सहलाती रहीं। पुरुष उन्हें तिल-तिल कर मारने का प्रयत्न करता रहा और यह नारी पल-पल स्वयं मिटकर सेवा, त्याग, तप और स्नेह से उन्हें जीवनदान देती रही। पश्चिम के अतिभौतिकवाद से त्रस्त हो श्रीमती एनी-बीसेन्ट अध्यात्म के, पवित्र आत्मा के आलोक को आलोकित करने भारत चली आईं। हृदय की दिव्यता और आत्मा की उच्चता ने पश्चिम की एक महिला को भारत की भगिनी निवेदिता बना दिया। ऐसा ही है नारी का स्वरूप।

अगर वह सच्चा है तो चाहे वह भारत की हो या किसी अन्य देश की, वह हृदय की पवित्रता और आत्मा की अमलता के साथ ही अखण्ड स्नेह, त्याग, तप, दया, श्रद्धा और सहानुभूति के गुणों से सम्पन्न होगी। पश्चिम की हर अच्छाई को स्वीकार करते हुए भी मुझे यहाँ यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि भारतीय नारी में ये गुण जितने प्राप्य हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी इस सत्य की घोषणा करते हुए कहा है—"मैंने पृथ्वी के दो गोलार्धों का पर्यटन किया है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया—सम्भव है कि यह कल्पना मात्र ही हो—उस जाति में स्त्रीजाति के प्रति इतना अधिक सम्मान एवं श्रद्धा है कि उसकी तुलना विश्व के अन्य किसी जाति से नहीं हो सकती।" महात्मा गाँधी ने भी नारी की इसी चिरशक्ति पर सदैव विश्वास करते हुए उसे सत्य और अहिंसा का अवतार माना है। महाभारत ने भी नारायणी इन्द्रसेना, जनकनन्दिनी, सीता, राजकुमारी लोपामुद्रा और सती सावित्री के आदर्शों का गान किया है।

बुद्धि के अपार ऐश्वर्य में उन्मत्त पुरुष एक ओर आग लगाता है तो दूसरी ओर नारी उसे स्नेह की स्निग्धता से शीतल कर देती है। उस आग में जब पुरुष स्वयं झुलस जाता है तब नारी उसे सम्हालती है, उसके छालों पर ममता की मरहम लगा कर उसे नया जीवन और नयी शक्ति प्रदान करती है। कठोर कर्म से थके हारे मनुष्य को

वह अपने स्नेहांचल की छाया में शीतलता प्रदान करती है। हम नारी की इस सत्ता को यदि स्वीकर न करें तो निःसंदेह जीवन का यह पवित्र, कोमल और निर्मल अंग अपूर्ण रह जाय !

इस लेख को समाप्त करते करते एक ऐसे सत्य का स्मरण हो आया जिसे मैं उस समय अनुभव न कर पाई थी जब उससे परिचय हुआ था। शिशुकाल में ढिठाई करने पर माँ रुष्ट हो जातीं तो पास बैठे हुए पिताजी कहते, "बेटा, दोनों हाथ जोड़कर माँ से क्षमा माँगते हुए कहो— माता ! तू परमेश्वर है, परमेश्वर से भी बढ़कर है।" उस समय मैं पिताजी की सीख का अनुकरण तो कर लेती, किन्तु यह समझ नहीं पाती कि यह कौन सा मंत्र है जिससे माँ के होठों पर एकदम स्मितरेखा दौड़ जाती है। माँ के उस परमेश्वरत्व को ममता के माध्यम से आज मैं अपने भीतर रोम-रोम में सत्य अनुभव करती हूँ। यहाँ स्वामी रामतीर्थ की कुछ पंक्तियाँ स्मरण हो जाती हैं। इंगलैण्ड और अमेरिका की नारियों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए तथा भारतीय नारी के मातृत्व-रूप की गरिमा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है:—

"In this country you worship God as Father, the 'Father who art in Heaven.' In India God is worshipped not as the father but as the mother also. The word 'Mother' is

the dearest word in the Indian language; Mataji the blessed God, the dearest God."

—अर्थात्, "इस देश में आप ईश्वर की आराधना पिता के रूप में करते हैं, हे मेरे स्वर्गीय पिता' कहकर। भारत में ईश्वर की उपासना पितृरूप में न होकर मातृरूप में होती है भारतीय भाषा में माँ अतिप्रिय शब्द है, 'माताजी ही आराध्य और सर्वप्रिय देवता हैं।' वे पुनः कहते हैं—

"When a Hindu falls sick or is suffering excruciating pain. at the moment of pain the words that escape him are not 'My god.' No; it is 'Ma' 'Ma' which means 'mother, mother'; this is what escapes from his lips, this is what comes from the innermost depths of a Hindu's heart. Mother is the word which brings the deepest feelings from the soul of a Hindu."

—अर्थात्, "जब कोई हिन्दू ज्वर से पीड़ित होता है या वेदना से कराहता है तो वेदना के इन क्षणों में, उसके मुख से 'मेरे ईश्वर' नहीं, किन्तु 'माँ' 'माँ' निःसृत होता है। यह उसके हृदय की अंतरतम गहराई से ओठों तक आता है। 'माँ' एक ऐसा शब्द है जो एक हिन्दू आत्मा के गहनतम भावों को प्रकट करता है।"

ईश्वर की सत्ता को पूर्ण ब्रह्म और सर्वशक्तिमान के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु 'माँ' को हमने उससे भी ऊपर माना है। उसकी गरिमा को, उसके सात्त्विक अस्तित्व को जब तक हम जीवन में स्वीकार नहीं करते तब तक जीवन अपूर्ण है।

यदि जीवन एक यज्ञ है तो नारी उसमें वह हविष्य है जो यज्ञ के उद्देश्य को पूर्ण कर, चतुर्दिक सुरभि-विस्तार कर, पवित्रता और सात्त्विकता का वातावरण निर्मित करती है। जीवन यदि एक कला है तो नारी उसे सौंदर्य प्रदान करनेवाली वह रंग-भरी शक्ति है जो उसे शाश्वत और चिर मनोहारी बनाती है।

—×—

जिनके कर्म इच्छाओं और वासनाओं से मुक्त हैं, जिनके कर्म ज्ञान को अग्नि में भस्म हो गये हैं। उन्हें ही विद्वान् लोग ऋषि कहते हैं।

— श्रीकृष्ण

जो सामर्थ्यवान् होकर भी अपने क्रोध को प्रदर्शित नहीं करता, ईश्वर उसे पुरस्कृत करेंगे।

— पैगम्बर मोहम्मद

प्रश्न—हिन्दू धर्म को सनातन धर्म क्यों कहते हैं तथा वेदों को अपौरुषेय क्यों कहा गया है ? सनातन धर्म का हिन्दू धर्म नाम कैसे पड़ा ?

— श्रीमती उषारानी ठाकुर, लखनऊ

उत्तर—हिन्दू धर्म को सनातन कहने का तात्पर्य यह है कि वह अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। इतिहास की पहुँच हिन्दू धर्म के स्रोत तक नहीं जाती। जैसे अन्य धर्मों के प्रवर्तक और स्थापक होते हैं, वैसे हिन्दू धर्म के नहीं हैं। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म ईसा पर, इस्लाम धर्म मुहम्मद पर, पारसी धर्म जरथुस्त्र पर, बौद्ध धर्म बुद्ध पर तथा इसी प्रकार अन्यान्य धर्म अपने अपने प्रवर्तकों की नींव पर खड़े हैं। पर हिन्दू धर्म की बात निराली है। इसके कोई प्रवर्तक नहीं—यह मानवहृदय में आत्मा की अनुभूति से उपजा है। इसीलिए इसे सनातन कहते हैं और

यही कारण है कि यह अपौरुषेय भी कहलाता है। अपौरुषेय का तात्पर्य है कि किसी पुरुष ने इसे नहीं बनाया, वेदों को नहीं लिखा। मानवहृदय में—जिज्ञासु ऋषिहृदय में—आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी सत्यों की जो अनुभूतियाँ उतरीं, उन्हीं अनुभूतियों का शब्दबद्ध रूप ये वेद हैं।

'हिन्दू' शब्द मूलतः भारतीय नहीं है। यह फारसी मुख से निकला हुआ शब्द है। उस समय सिन्धु नदी से इस पार बसनेवाले भारतवासियों को सम्बोधित करने के लिए फारसियों द्वारा हिन्दू शब्द का प्रयोग किया जाता था। फारसी में 'स' का उच्चारण 'ह' होता है, अतः 'सिन्धु' उनके लिए 'हिन्दू' हो गया। तभी से हमने भी अपने लिए हिन्दू शब्द को स्वीकार कर लिया। अतः देखते हैं कि हिन्दू शब्द एक भौगोलिक सीमा का द्योतक है और उसके अनुसार सिन्धु नदी के इस पार बसनेवाले समूचे भारत-वासी ही हिन्दू हैं।

प्रश्न—पुराणों का खोखलापन इसी से सिद्ध है कि पार्वती को हिमालय की कन्या बताया है, गंगा के पुत्र उत्पन्न किये हैं तथा और भी कितनी ही अजीबो-गरीब बातों का वर्णन है। क्या पर्वत और नदी के भी पुत्र-पुत्री हो सकते हैं?

—प्रभातकुमार शुक्ल, अकोला

उत्तर—अपने निष्कर्ष में इतने उतावले न बनें। एकदम इस प्रकार निष्कर्ष निकाल लेना पुराणों का नहीं बल्कि

मानव-मस्तिष्क का खोखलापन है। पुराणों की कथाएँ रूपकों के सहारे कही गई हैं। इन रूपकों में गूढ़ अर्थ भरा है जिसे समझने के लिए तत्कालीन इतिहास, परम्पराओं और आचार-विचारों के गहन अध्ययन की आवश्यकता है ऊपर ऊपर पृष्ठ पलटनेवालों के लिए वह भले ही बेतुकी कहानी सी मालूम पड़े, पर जो अन्वेषक और खोजी वृत्तिके हैं, उन्हें उसमें गम्भीर, जीवनोपयोगी अर्थ भरा मिलेगा। समझने का प्रयत्न करें।

कोई भी मनुष्य इस संसार में भ्रम में न रहे। बिना सद्गुरु के कोई संसार से पार नहीं उतर सकता।

—गुरू नानक

शेर के अन्दर भी परमात्मा विराजमान है पर इसी कारण उसके सामने नहीं चले जाना चाहिये। दुष्ट मनुष्यों में ईश्वर विद्यमान हैं, पर इसीलिए उनका साथ करना उचित नहीं।

— श्री रामकृष्ण

आश्रम समाचार

विगत २५ जुलाई को रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के उपकुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेना द्वारा 'विवेकानन्द स्मारक सत्संग भवन' तथा आश्रम के 'साप्ताहिक सत्संग' का यथाविधि उद्घाटन किया गया। इस अवसर पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में प्रमुख अतिथि महोदय ने 'सत्संग की व्याख्या करते हुए आज के समाज के लिए इस प्रकार के सत्संग की प्रयोजनीयता प्रतिप्रादित की तथा स्वामी आत्मानन्द ने 'साप्ताहिक सत्संग' के अन्तर्गत अपनी 'उपनिषद् - प्रवचनमाला' का प्रथम व्याख्यान 'उपनिषद्-प्रवेश' पर दिया। यह 'उपनिषद् - प्रवचनमाला' प्रति रविवार को सायंकाल ५॥ बजे होती है। स्वामीजी ने सर्वप्रथम 'ईशावास्योपनिषद्' को चर्चा के लिए हाथ में लिया है।

इसके अतिरिक्त, समय समय पर अन्य पर्वों का भी आयोजन किया जाता है। इस बीच, तिलक पुण्यतिथि, तुलसी जयन्ती, १५ अगस्त और जन्माष्टमी के पर्व सोत्साह मनाये गये।

१ अगस्त को तिलक पुण्यतिथि के अवसर पर स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के प्राचार्य श्री दुर्गादत्त झा तथा शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका कुमारी शकुन्तला घाटगे ने

लोकमान्य तिलक के क्रमशः आध्यात्मिक और साहित्यिक पक्ष पर चर्चा की।

१४ अगस्त को तुलसी जयन्ती के अवसर पर प्राचार्य दुर्गादत्त झा की अध्यक्षता में प्राध्यापिका श्रीमती विद्या गोलवलकर ने 'तुलसी के राम' पर तथा प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा ने 'समन्वयाचार्य तुलसी' पर विद्वतापूर्ण भाषण दिया।

१५ अगस्त को स्वाधीनता दिवस के उपलक्ष में 'राष्ट्र-नायकों का राजनीति दर्शन' विषय पर रोचक परिसंवाद हुआ जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर राजकुमार कालेज के प्राचार्य व्ही० व्ही० सोवानी, दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक हरवंशलालजी चौरसिया, प्राचार्य दुर्गादत्त झा तथा शासकीय विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा ने क्रमशः तिलक, अरविन्द, गाँधी और नेहरू के राजनीति-दर्शन पर अध्ययनात्मक भाषण दिये।

३० अगस्त को जन्माष्टमी का पर्व मनाया गया। इस अवसर पर आयोजित सार्वजनिक सभा की अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। राजकुमार कालेज के प्राध्यापक सुधाकर गोलवलकर तथा शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती स्नेहलता तिवारी ने क्रमशः 'लोक-नायक कृष्ण' और 'सूर के कृष्ण' पर विचारोत्तेजक भाषण दिये।

छुट्टी की सूचना—स्वामी आत्मानन्द इस सत्र का अपना अन्तिम रविवासरीय व्याख्यान ११ अक्तूबर १९६४ को देंगे। इसके बाद दशहरा एवं दीपावली के लिए सत्संग का कार्यक्रम ४ सप्ताह के लिए बन्द रहेगा तथा सत्संग का अगला सत्र रविवार ८ नवम्बर १९६४ से प्रारम्भ होगा। इसी दिन से स्वामी आत्मानन्द पुनः अपना 'रविवासरीय उपनिषद्-प्रवचन' शुरू करेंगे।

विस्थापित सहायता कार्य

रामकृष्ण मिशन

रायपुर के निकट स्थित माना और कुरुद शिविरों में पूर्वी पाकिस्तान से आये हुए विस्थापितों की सहायता के हेतु रामकृष्ण मिशन विशेष प्रयत्नशील है। अगस्त के अन्त तक मिशन द्वारा विस्थापितों की मदद के लिए लगभग ७०,०००) सत्तर हजार रुपये व्यय किये जा चुके हैं। मोटे तौर पर व्यय की मदें इस प्रकार हैं:—

	मद	संख्या
(१)	धूसा	६१२०
(२)	साड़ी	४४२७
(३)	धोती	१५८६
(४)	लालटेन	५०३
(५)	बाल्टी	५०४
(६)	बनियान	१८३०
(७)	रेडीमेड विभिन्न वस्त्र	१०७५

	मद	संख्या
(८)	मुरमुरा	७१ बोरे
(९)	शक्कर	३ बोरे
(१०)	हार्लिक्स, हालिबोरेंज आदि	१२००) का
(११)	विविध	२०००) का

इसके अतिरिक्त, मिशन ने २२ मई से २२ अगस्त तक निम्नलिखित वस्तुओं को भी तैयार करके बाँटा है:—

(१)	बार्ली	१६८·५ किलो
(२)	मिल्क पाउडर	७२७७·५ पौंड
(३)	मल्टी परपज़ फुड	१५५ किलो
(४)	मल्टी विटामिन गोलियाँ	३४८०
(५)	पुराने वस्त्र	३७५७
(६)	लिवर टानिक	८१८७ मिली लीटर

विस्थापित सहायता समिति

रामकृष्ण मिशन के द्वारा माना और कुरुद कैम्पों में बसे विस्थापितों की सहायता के लिए सेवा केन्द्र खोलने के पूर्व स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में गठित विस्थापित सहायता समिति उक्त दोनों कैम्पों के विस्थापितों के सहायतार्थ लगभग ५२००० बावन हजार रुपये की सामग्री प्रदान कर चुकी है।

— × —